समझना चाहिए, कि मैं एक शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य आत्मा हूं और ये शरीर व शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ मुझसे पर हैं, जो पर हैं वे सदा पर ही रहेंगे और जो स्व (अपने) हैं वे सदा अपने ही रहेंगे। ये पर संयोग से भले ही कदाचित् कुछ विकृत हो जावें, जैसे जल अग्नि के संयोग से उष्ण हो जाता है, परन्तु ज्यों ही पर सम्बन्ध छूट जाता है त्यों ही स्व स्वरूप हो जाता है, जैसे जल अग्नि के संबन्ध छूटने से पुनः शीतल हो जाता है, इसी प्रकार इस जीव (स्वात्मा) को अनादि काल से कर्म व तद्निमित्तक शरीरादि पर पदार्थों का संयोग सम्बन्ध हो रहा है। इसलिए इसने उन्हीं पर पदार्थों को स्वात्मा मान लिया है और जब तक इसकी यह भूल न मिटेगी, तब तक यह बराबर इसी प्रकार दुखी रहेगा और पिटेगा, जैसे लोहे की संगति से अग्नि भी पीटी जाती है।

किंतु ज्यों ही यह स्व-पर के स्वरूप को समझ कर सत्य श्रद्धा कर लेता है, त्यों ही इसे स्व स्वरूप में रुचि और पर स्वरूप में उपेक्षा भाव हो जाता है, फिर भले ही यह कर्मोदय की पराधीनता से तत्काल पर वस्तुओं से अपना संबन्ध सर्वथा विच्छेद करने में असमर्थ हो; तो भी वह पींजरे में बंद, किंतु स्वतंत्रता के इच्छुक तोते के समना सदैव ही पींजरे की खिड़की खुलने अर्थात् छूट भागने के सुअवसर को बहुत सावधानी से देखता रहता है और अवसर पाते ही निकल भागता है, परंतु जब तक वह अवसर नहीं आता है तब तक सदैव अपनी अवस्था का अनुपम आदर्श सामने रखे रहता है और बंधन की अवस्था को बंधन ही मानता रहता है तथा वह अपना

स्वरूप भूल न जाय, धोखा न खाजाय, इसके लिए नित्य प्रति दिवस में तीन वार, दो वार या कम से कम एक वार तो अवश्य ही किसी शांत और एकांत स्थान में बैठ कर राग द्वेष भावों तथा कर्म (ज्ञानावरणादि आठ) नो कर्म (शरीरादि) से रहित अपने शुद्ध बुद्ध नित्यानन्द स्वरूप आत्मा का विचार किया करता है तथा जो आत्माएँ स्व स्वरूप को प्राप्त हो चुकी हैं उनका आदर्श सन्मुख खड़ा करके उनके गुण चिंतवन स्तवन वंदन करता है, कर्मोपाधि से जो दुष्कृत हुए व हो रहे हैं, उन पर पश्चाताप करके उनको मिथ्या करने का विचार करता है इसे ही प्रतिक्रमण कहते हैं तथा भविष्य में ऐसे कृत्य जो किसी प्रकार कर्म वंधन के कारण होवें, नहीं करने का विचार करता है इसे प्रत्याख्यान कहते हैं, इससे साव-धान रहता है तथा कुछ समय के लिए शरीर से भी ममत्व को छोड़कर स्वात्म स्वरूप में एकाग्र तल्लीन हो जाता है, इन्हीं को सामायकादि आवश्यक कहते हैं। यह सत्य है, कि अनादि काल से इस जीव ने जिन विषय व कषायों का अनुभव किया है, उन्हीं में इसकी भावनायें दौड़ जाया करती हैं और स्वात्म स्वरूप चिंतवनादि भावनाओं में स्थिर नहीं रहने पाता, परंतु प्रयत्न करने से क्या सिद्ध नहीं होता? सभी हो सकता है। अतएव प्रारम्भावस्था में यह वारम्वार हारता है, परंतु फिर भी हताश नहीं होता। अपना उद्योग वार वार जारी रखता है। एक ओर इसका चंचल मन भागता है और दूसरी ओर नियम रूपी कठिन रस्सी से वांधे हुए खींच २ कर वह पुनः २ अपनी ओर लाता है। इस प्रकार निरंतर के अपने शुभ उद्योग से धीरे २ विजय पाने लगता है अर्थात्

आत्मा में ज्यों ज्यों स्वरूप श्रद्धान ज्ञान और वैराग्य की भावनायें दृढ़ होती जाती हैं, त्यों त्यों अभ्यास बढ़ता जाता है और स्वरूप में स्थिरता भी होने लगती है। अतएव उद्योग तो सदैव करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार के स्वरूप साधन के अभ्यास को सामायिक कहते हैं। यह सामायिक सम्यग्दृष्टी जीवों की ही सच्ची सामायिक कहाती है और वही यथार्थ फलवती होती है।

यद्यपि जैनेतर धर्म प्रवर्तकों ने भी त्रिकाल संध्या बताई है; मुसलमानों ने तो पांच बार नमाज़ पढ़ना बताया है, परंत वे किसी विशेष शक्ति वाले कर्त्ता ईश्वर की उपासना करते हैं; उनका लक्ष्य स्वात्मा को परमात्मा बनाना नहीं है, न उनके मत से आत्मा परमात्मा बन सकता है। अतएव सच्ची सामायिक जैन सिद्धान्तानुसार ही आत्म कल्याण करने वाली होती है । जिससे संसारी आत्मा परमात्मा बन सकता है।

आज कल हमारे बहुत से भाई बहिनें सामायिक का अभ्यास भी नहीं करते, इसका कारण या तो उनका प्रमाद है या विधि का न जानना, व पाठ का न समझना ही हो सकता है। प्रमाद त्याग का उपाय तो सामायिक का नियम कर लेना है और विधि व अर्थ आगे बताया जायगा। अतएव आशा है कि हमारा यह शुभ प्रयत्न सफल होगा और इससे हमारे भाई बहिनें लाभ उठायेंगे। जो भाई बहिनें संस्कृत श्लोक न पढ़ सकें वे केवल भाषा के पद्य मात्र याद कर लें। मूल के आधार पर ही वे रचे गए हैं और भाषा में खुलासा अर्थ भी

दे दिया गया है इसके सिवाय एक प्राचीन प्रतिक्रमणपाठ भी मूल और अर्थ सहित पं० बालचन्द्रजी शास्त्री से शुद्ध कराकर तथा गिरधर शर्म्मा कृत संक्षिप्त आलोचना पाठ (पद्य) और अन्तर दृष्टि कराने वाला शांति दशक (पद्य) भी देदिया है। इसकी प्रथमावृत्ति ५०० प्रतियां श्रीमान् कोटड़िया ऊगरचन्द्र सखमलदास ओरान निवासी ने और द्वितियावृत्ति ५०० प्रतियां बजाज नाथूरामात्मज मास्टर कालूराम छोटेलाल तथा भूपेन्द्र कुमार नरसिंहपुर (सी० पी०) निवासी ने प्रकाशित कराई थीं, जो मुमुक्षुजनों में बहुत शीघ्र वितीर्ण हो गई और फिर भी मांग आती रही। इस उपयोगिता को देखकर ओरान (गुजरात) निवासी बाल-ब्रह्मचारी शाह, सबाभाई सखमलदास ने इसे परिवर्द्धित रूप में तीसरीबार ये १००० प्रतियां प्रकाशित कराई हैं। अतएव आपको तो धन्यवाद है ही, परन्तु वे मुमुक्षुसज्जन भी धन्यवाद के पात्र होंगे, जो इसे प्राप्त करके कम से कम दिन में एकबार भी निरंतर सामायिक का अभ्यास करते रहेंगे, इसी लिए इस का मूल्य भी नित्य सामायिक करना रक्खा गया है, इसे कोई सामायिक की नित्य प्रतिज्ञा करके मुमुक्षु मँगा सक्ता है।

रक्षाबंधन (सलूना)
२४६२

मुमुक्षुसहायक—
(धर्मरत्न पंडित) दीपचन्द वर्णी,
अधिष्ठाता—
श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, चौरासी (मथुरा)

सामायिक करने की विधि ।

प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पहिले से लेकर कुछ समय बाद तक, इसी प्रकार मध्याह्नकाल में और सायंकाल में भी लेना चाहिये, अर्थात् यदि ६ घड़ी सामायिक करना होवे तो सूर्योदय से ३ घड़ी पहिले से ३ घड़ी बाद तक यदि ४ घड़ी करना हो तो २ घड़ी पहिले से २ घड़ी बाद तक और यदि २ घड़ी करना हो तो १ घड़ी पहिले से १ घड़ी बाद तक करना चाहिये, ऐसे ही दो पहर को मध्याह्न (१२ बजे) के सूर्य से आधा समय पहिले और आधा बाद तक और ऐसे ही सायंकाल में आधा समय सूर्यास्त से पहिले और आधा बाद तक लेना चाहिये, इस प्रकार तीनों संधियों को सामायिक के समय के मध्य में लैना उत्तम काल शुद्धि है। उत्तम सामायिक ६ घड़ी की होती है। मध्यम सामायिक ४ घड़ी की और जघन्य २ घड़ी की मानी गई है, उत्तम तो यही है कि तीनों संधियां मध्य में लो जांय, परन्तु कारणवश ऐसा न हो सके, तो उत्कृष्ट सामायिक के काल में प्रारम्भ करके उसी के अन्दर मध्यम और जघन्य सामायिक वाले किसी भी समय कर सकते हैं विशेषावस्था में तीनों प्रकार को सामायिक वाले उत्कृष्ट सामायिक के काल से पहिले प्रारंभ करके सामायिक के काल में पहुँचकर पूर्ण कर सकते या कि सामायिक के काल में प्रारम्भ करके पश्चात् तक भी पूर्ण कर सकते हैं, यह मध्यम और जघन्य काल शुद्धि है। तात्पर्य—सामायिक का काल उलंघन किसी भी अवस्था में न होना चाहिए, इस प्रकार तीनों संध्याओं में प्रत्येक मुमुक्षु नर नारी को, स्वस्थ चित्त होकर शरीर की भी शुद्धि करके शुद्ध वस्त्र जो गृहस्थाश्रम के कार्यों में नहीं आते, किन्तु केवल पूजन स्वाध्याय

व सामायिक के ही उपयोग में आते हैं, ऐसे धोती दुपट्टा वंडे आदि जो शुद्ध सूत(खादी) के हों, ऊन व रेशम के अपवित्र न हों,पहिनकर किसी एकांत स्थान में जहाँ डांस मच्छरादि की विशेष वाधा न हो. भूमि शीतल (सर्दी वाली) न हो, चींटी चींटा (कीड़ा मकोड़ा) खटमल (मांकड़) आदि न हों, जहाँ कोलाहल (स्त्री पुरुष आदि के जोर शोर से उपहास व परस्पर के कषाय रूप शब्द) न सुनाई देते हों, जहां व्यवहारी लोगों का आना जाना न होता हो, जहाँ कि पशु पक्षियों आदि का आना जाना न हो, तथा जहाँ लग्न आदि उत्सवों की धूम-धाम न होवे, राग रङ्ग का स्थान न हो, ऐसा शांत एकान्त और वैराग्य युक्त स्थान में, (चाहे वह अपना हो निवास स्थान हो चाहे कोई मठ मन्दिर, पर्वत की गुफा, नदी का तट, पहाड़ी झाड़ी, वाग, वन, व स्मशान भूमि होवे) जाकर किसी निर्जीव शिला व भूमि को नरम पीछी या वस्त्र से प्रमार्जन कर लेना चाहिये। पश्चात् भूमि पर हो या आसन विछाकर पूर्व या उत्तर मुख करके खड़े होना चाहिये और दोनों हाथ कमलकी वोंडी के आकार जोड़कर मस्तक से लगाकर तीनवार शिरोनति करना (मस्तक झुकाकर नमोस्तु करना) और "ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॐ नमः सिद्धेभ्यः" इस मंत्र को उच्चारण करना चाहिए। पश्चात् सीधे खड़े होकर दोनों हाथ सीधे छोड़ देना चाहिए, दोनों पांवों की एड़ियों में ४ अङ्गुल का और सन्मुख अँगूठों में १२ अङ्गुल का अंतर रहे। इस प्रकार मस्तक को भी सीधा और नाशाग्र दृष्टि रखना चाहिए और नव ९ णमोंकार मन्त्रों का जप २७ स्वासोच्छ्वासों में

अर्थात् १ पूर्ण मन्त्र ३ स्वासोच्छ्वासों में पूर्ण करके कायोत्सर्ग करना चाहिये, ३ स्वासोच्छ्वास यों होते हैं कि णमो अरहंताणं का ध्यान करते हुए स्वास ऊपर चढ़ाना, फिर णमो सिद्धाणं का ध्यान करते हुए वाहर निकालना, फिर णमो आयरियाणं के ध्यान में भीतर खींचना और णमो उवज्झायाणं के ध्यान में वाहर निकालना, पश्चात् णमो लोए के ध्यान में भीतर और सव्वसाहूणं के ध्यान में वाहर निकालना चाहिये, इस प्रकार एक मन्त्र में ३ और नव में २७ स्वासोच्छ्वास हो जाते हैं इसी को १ कायोत्सर्ग कहते हैं, कायोत्सर्ग कर लेने के वाद उसी उत्तर या पूर्व (जो होवे) में दोनों घुटने पृथ्वी पर लगाकर और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक में लगाकर मस्तक भूमि से लगाकर अष्टांग नमस्कार करना चाहिए, पश्चात् खड़े होकर कालादि का प्रमाण कर लेना चाहिए "कि मैं ६ घड़ी ४ घड़ी या २ घड़ी (घड़ी २४ मिनट की होती है) अथवा अपनी सुविधा व स्थिरता के अनुसार अमुक समय तक सामायिक करूंगा, उतने काल में जो परिग्रह शरीर पर है, उतना ही ग्रहण है। शेष सव का इतने काल में त्याग है; इतने काल में मैं इस क्षेत्र के सिवाय जहाँ मैं खडा हूँ व बैठूंगा, शेष क्षेत्र में गमनागमन नहीं करूंगा, इतने समय तक अपने मन वचन और काय को यथासम्भव स्थिर रखने का प्रयत्न करूंगा और शत्रु-मित्र, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख, महल-श्मशान, नगर-वन व उपवन आदि में समता भाव रक्खूंगा, यथाशक्ति उपसर्ग और परीषह धैर्य पूर्वक सहन करूंगा, इत्यादि प्रतिज्ञा

करना चाहिए, पश्चात् उसी दिशा में बिल्कुल सीधे दोनों हाथ जोड़ (पहिले के समान) खड़े रहकर९या ३वारअपनी स्थिरता अनुसार ऊपर की विधि से णमोकार मन्त्र जप कर पश्चात् दोनों हाथ जोड़कर ३ आवर्त करना, अर्थात् दोनों हाथों की अँजुली बनाकर बाईं ओर से दाहिनी ओर को ले जाते हुए ३ चक्कर करना और फिर मस्तक से लगाकर मस्तक झुकाना चाहिये, इस प्रकार १ दिशा के ३ आवर्त और १ शिरोनति हुई, पश्चात् दाहिनी ओर पूर्व या दक्षिण दिशा में फिर कर खड़े होना चाहिए और उसी प्रकार ९ या ३वार मन्त्र जपकर उसी प्रकार ३ आवर्त और १ शिरोनति करना चाहिए, पश्चात् दाहिनी ओर दक्षिण वा पश्चिम दिशा में फिर कर उसी प्रकार मन्त्रों का जाप ३ आवर्त १ शिरोनति करना और फिर पश्चिम वा उत्तर में फिर कर भी वैसे ही जाप, आवर्त और शिरोनति करना चाहिए, इस प्रकार से चारों दिशाओं के सब मिलकर ३६ या १२ मन्त्रों का जाप १२ आवर्त और ४ शिरोनति हो जावेंगी, पश्चात् जिस दिशा में प्रथम खड़े होकर कायोत्सर्ग व नमस्कार किया था उसी दिशा में चाहे तो मूर्तिवत् स्थिर खड़े रहकर अथवा पद्मासन या अर्द्धपद्मासन से स्थिर बैठकर सामायिक के पाठ का इस प्रकार उच्चारण करे कि जिससे न तो आप पाठ भूल जावें और न अन्य सामायिकादि धर्मध्यान करने वालों को विघ्न होने पावे। तात्पर्य—न तो बहुत जोर से उच्चारण हो और न अनुच्चारण ही हो, तथा उच्चारण न बहुत जल्दी जल्दी किया जावे और न बहुत अधिक ठहर ठहरकर ही, किन्तु इस प्रकार से किया जावे कि उसका भाव बराबर समझ में आता रहे, ताकि मन उसी के विचार में लगा रहे, इस प्रकार से पाठ पूरा होजाने पर या तो णमोकार मन्त्र के

पूर्ण ३५ अक्षरों के मन्त्र से १०८ मंत्रों का उपर्युक्त विधि से जाप करना या अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय, सर्वसाधुभ्यो नमः इस मन्त्र का या अर्हंत सिद्ध या असिआउसा या अर्हंत या सिद्ध या ॐ इन मन्त्रों में से किसी एक का अपनी सुविधा के अनुसार १०८ वार जाप करे पश्चात् खड़े होकर पूर्ववत् कायोत्सर्ग (६ णमोकार मन्त्र जप) करके उसी दिशा में पुनः अष्टांग नमस्कार करे। इस प्रकार सामायिक पूर्ण करके फिर १२ भावनाओं का संवेग व वैराग्य के अर्थ चिंतवन करना चाहिए, तथा प्रातःकाल की सामायिक पूर्ण हो चुकने पर श्रावक के १७ नियमों का भी विचार करके स्वशक्ति अनुसार नियम करना चाहिए। वे १७ नियम ये हैं, यथा मैं आज दिन भर में इतने वार से अधिक भोजन नहीं करूंगा, इतने वार से अधिक पानी आदि पेय पदार्थ नहीं ग्रहण करूंगा, इतनी व इस प्रकार की सवारियों के सिवाय अन्य सवारियों में नहीं बैठूंगा, मैं अमुक प्रकार के बिस्तरों के सिवाय अन्य पर शयन नहीं करूंगा, जैसे पलङ्ग, लकड़ी का तख्त, पत्थर की शिला, भूमि, चटाई, घास, गादी आदि, ऐसे अमुक २ आसनों पर ही बैठूंगा अन्य पर नहीं, इतने वार से अधिक स्नान नहीं करूंगा या स्नान ही नहीं करूंगा, अमुक २ जाति के फूल व माला, के सिवाय अन्य नहीं सूघूंगा, इतर फुलेल आदि अमुक २ के सिवाय शेष का त्याग है, पानादि मुखशुद्धि के पदार्थ अमुक २ के सिवाय अन्य ग्रहण नहीं करूंगा, अमुक प्रकार के इतने वस्त्रों के सिवाय शेष को ग्रहण न करूँगा, अञ्जन-मंजनादि अमुक २ के सिवाय और न लगाऊँगा, अमुक २ आभूषणों के सिवाय शेष को न पहिरूँगा, मैथुन सेवन न करूंगा या इतने

बार से अधिक सेवन न करूंगा, सो भी स्वस्त्री में ही, गीत नृत्य वादित्र नहीं सुनूंगा न देखूंगा, (धार्मिक भजन संगीत नृत्य आदि सुनने देखने की छूट है) छह रसों में से अमुक अमुक के सिवाय शेष को नहीं ग्रहण करूँगा, सचित्त वस्तुओं को ग्रहण न करूंगा अथवा अमुक २ के सिवाय शेष का त्याग है, इत्यादि भोगोपभोग के पदार्थों का नियम रखकर शेष से, अमुक समय की मर्याद करके, मोह त्याग देना चाहिए, ऐसे ही दिग्व्रत के भीतर देशव्रत में अपनी परिस्थिती के अनुसार क्षेत्र की सीमा में यथायोग्य कमी करना चाहिए।

इस प्रकार की दूसरी प्रतिमा से ऊपर वाले श्रावकों तथा मुनि आर्यिकाओं को नित्य नियम पूर्वक त्रिकाल सामयिकादि षडावश्यक करना ही चाहिए, किन्तु दूसरी व दूसरी से नीचे प्रथम प्रतिमा वाले व पाक्षिक श्रावकों व अव्रती सम्यग्दृष्टी जीवों को त्रिकाल का नियम नहीं है, न अमुक समय का ही नियम है, वे अपने अपने भावों की स्थिरता के अनुसार ३ वार २ वार व १ वार भी कितने ही समय का प्रमाण करके अभ्यास रूप से सामयिक कर सकते हैं, दूसरी प्रतिमा में तो सामयिक व्रतों (शिक्षाव्रतों) में हैं, परन्तु तीसरी व उससे ऊपर प्रतिमा (प्रतिज्ञा) रूप से त्रिकाल में आवश्यक है, इसलिए उनको उत्तम मध्यम या जघन्य काल तक नियम से निरतिचार सामायिक त्रिकाल में करना ही चाहिए, ज्यों २ ऊपर २ प्रतिमायें वढ़ती जायगीं, सामयिक का काल भी वढ़ता जायगा, जो, श्रावक के उत्कृष्ट (११ वें) स्थानमें उत्कृष्ट हो जायगा, उससे आगे छठवें गुणस्थानादि में सामायिक संयम होजाता है उनके निरंतर सामायिक रूप ही प्रवृति रहती है, वहां जघन्य व मध्यम काल का कुछ

प्रयोजन ही नहीं है, क्योंकि उनके ध्यान और अध्ययन दो ही मुख्य कार्य हैं शेष आहार निहार विहार आदि सब इन्हीं के साधन हैं।

उपर्युक्त विधि श्रावकों को लक्ष्य करके ही लिखी गई हैं, श्रावकों को लौकिक शुद्धि आवश्यक है, क्योंकि इनके इन्द्रिय-विषयों में प्रवृति रहती है। अतएव उन्हें गृहस्थ की क्रिया के वाद शरीर की शुद्धि तथा वस्त्रों का वदलना आवश्यक है, परन्तु ऐसी कोई अशुचि क्रिया नहीं की गई हो अथबा शौचादि (मलमूत्रत्याग) क्रियाएं नहीं की गई हों तथा वस्त्र शुद्ध हों तो स्नान करना आवश्यक नहीं है, "ब्रह्मचारी सदा शुचिः"।

सामयिक की प्रारंभिक विधि (नमस्कार आवर्ततथा शिरोनति) कर चुकने के वाद प्रथम ही अपने भूत काल सम्बन्धी दोषों का विचार करके उनकी निन्दा गर्हा व पश्चात्ताप करके उनको मिथ्या करने का प्रयत्न करना चाहिए, इसे ही प्रतिक्रमण कहते हैं, पश्चात् भविष्य काल में ऐसे दोष नहीं लगाउँगा इस प्रकार का विचार करे, इसे प्रत्याख्यान कहते हैं। फिर समस्त दोषों से शांति पाकर शत्रु-मित्र, महल-स्मशान, नगर-वन, सुख दुख, हानि,लाभ,संयोग,वियोग, में से इष्टाऽनिष्ट बुद्धि को हटाकर सर्वप्राणि मात्रमें समताभाव धारण करना चाहिए इसे सामायिक कहते हैं, पश्चात् सामयिक के शिक्षक, पूर्ण सामायिक की मूर्ति ऐसे २४ तीर्थङ्करों का स्तवन करना चाहिए, इसे स्तव व स्तवन कहते हैं, पश्चात् पंच परमेष्ठी या किसी १ तीर्थङ्कर का विशेष गुणानुवाद करके वंदना करना चाहिए, इसे वंदन कहते हैं, इससे सामयिक में दृढ़ता होती, व स्वात्मरुचि वढ़ती है, पर पदार्थों में विरक्त भाव वढ़ता है,

पश्चात् काय से ममत्व भाव को त्याग कर कुछ समय के लिए अपने शुद्धात्मस्वरूप का विचार करना चाहिये, उसी में निमग्न होजाना चाहिए, इसे कायोत्सर्ग कहते हैं, ये सामायिक के छः आवश्यक हैं जो नित्य प्रति स्वात्महित के लिए अप्रमादी होकर श्रद्धापूर्वक प्रसन्नता से करना चाहिए।

श्रावकों के जो देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान षट् कर्म बताए हैं उनमें सामायिक तप में आजाती है क्योंकि तप का लक्षण इच्छा का निरोध करना है और सामायिक में इच्छा का निरोध विशेष रूप से होता है तथा ध्यान को अन्तरंग तपों में माना है, सो इसमें ध्यान भी होता है प्रायश्चित, विनय, स्वाध्याय, व्युत्सर्गादि सभी यथासंभव आते हैं, इसके सिवाय अनशनादि भी तप हैं जो श्रावक यथासंभव करते हैं और करना चाहिये।

अब १०८ मन्त्रों के जाप का भेद बताते हैं, गृहस्थों को संरंभ, समारंभ, आरम्भ, ये तीन मन से, वचन से, तथा काय से स्वयं करने पड़ते हैं, कराना पड़ते हैं, व अनुमोदना करना पड़ती है, जो क्रोध, मान, माया, वा लोभ के वश में हो कर होते हैं, इस लिए इनके परस्पर गुणाने से १०८ भङ्ग बन जाते हैं, जैसे सरंभ मन से, स्वयं, क्रोध के वश होकर किया, यह एक भंग हुआ, (२) समारंभ, मनसे, स्वयं, क्रोध के वश होकर किया, (३) आरम्भ मन से, स्वयं क्रोध के बश होकर किया, इसी प्रकार प्रत्येक वचन पर फिर काय पर लगाना, फिर कृत; कारित, अनुमोदना, फिर कषायों पर लगाने से १०८ भंग होजाते हैं, इनसे कर्मास्रव होता है, इसलिए एक एक

आश्रवद्वार को रोकने के लिए एक २ मन्त्र का जाप करते हैं।

जाप, उत्तम तो ये है कि अपने हृदय में एक आठ पांखुड़ी के कमल का चितवन करे जो स्फटिक समान निर्मल शुभ्र वर्ण का हो, उसके मध्य एक कर्णिका का चितवन करे, फिर कर्णिका तथा प्रत्येक पांखुड़ी पर बारह पंच २ किरणों के तारों का चितवन करे ये सब तारे १०८ हो जांयगे; तब प्रथम कर्णिका से प्रारम्भ करके, क्रम से सब तारों पर ध्यान रखते हुए णमोकार आदि मन्त्रों का जाप करे, इसमें चित्त की एकाग्रता विशेष रूप से होती है बहुत सावधान रहना पड़ता है, इस लिए इसका अभ्यास करना चाहिए, इसके सिवाय स्फटिक, सुवर्ण, रूपा, मूंगा, सूत आदि की मालाओं पर भी जाप कर सकता है।

ॐ

सामायिक पाठ अर्थात् पवित्र भावनाएँ

(१)

सत्त्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

भावार्थ–हे देव ! मेरे सदैव जीवमात्र में मैत्रीभाव, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादिकर श्रेष्ठ (गुणी) महात्माओं में प्रमोद (हर्ष) भाव, दीन-दुखी जीवों में करुणा (दया) भाव और अज्ञानी विपरीत मार्गानुगामी जनों में उपेक्षा (न प्रेम भक्ति, और न द्वेष वैर आदि) भाव रहें ।

प्रेम हमारा सब जीवों में सदा मित्रवत् बना रहे ।
गुणी जनों को लखकर मेरा मन अति ही आनन्द लहे ॥
दीन दुखी जीवों हित मेरे दयाभाव का स्रोत वहै ।
देव ! विपर्यय पुरुषों प्रति मन सदा भाव माध्यस्थ्य गहै ॥

(२)

शरीरतः कर्तुमनन्तशक्तिं विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्रकोशादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! जैसे म्यान से खड्ग पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार मेरा, अनन्त ज्ञानादि शक्तियों का समुदायस्वरूप निर्मल (समस्त दोषों से रहित) आत्मा, आपके प्रसाद से, शरीर से भिन्न हो, ऐसी शक्ति प्रगट हो ।

नित्यशुद्ध चैतन्य अनन्ते ज्ञानदर्श सुख. बल युत राम ।
परमशांतिमय निज रस भोगी सिद्ध समान सगुण को धाम ॥

सो मम आतम मोहकर्मवश पुद्गल संग नचै वसु जाम।
देव भिन्न हो चेतन तन से ज्यों म्यान से खड्ग मुदाम॥

(३)

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ॥

भावार्थ–हे नाथ! दुःख सुःख, शत्रु, मित्र, संयोग, वियोग महल व उद्यान (वन) आदि में ममत्व (इष्ट अनिष्ट) बुद्धि हट कर मेरे सदैव समता भाव बना रहे।

अमरपुरी सम सुख हो मुझको या दुख होवें नर्कसमान।
मित्र तुल्य वर्तें जग प्राणी या रिपुवत् छेदें तन आन॥
इष्टवियोग अनिष्ट योग में महल मशान तथा उद्यान।
सब में समताभाव सदा हो मेरे वीतराग भगवान॥

(४)

मुनीश! लीनाविव कीलिताविव स्थिरौ निपाताविव बिम्बताविव।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा तमोधुनानौ हृदि दीपकाविव॥

भावार्थ–हे मुनीश! दीपक के समान अन्धकार को नाश करने वाले तेरे चरण कमल मेरे हृदय में इस प्रकार सदाके लिये स्थिर हो जावें लय होजावें, मानो कील दिये गये हों. अथवा बिम्ब के समान उकीरे गये हों, तात्पर्य–मेरा मन तुम्हारे चरणों के आश्रित होकर चंचलता रहित स्थिर होजावे, अन्यत्र विषय-कषायों में न जाने पावे॥ ४॥

मेरा मन नित हे जिनेश तव पद कमलों में लीन रहो।
तेरे चरण कमल मम हिय में वसौ निरंतर नाथ अहो॥
मंत्र मुग्ध या कीलित वत् या बिम्ब उपल सम होजावे।
मोह तिमिर नाशक तव पद से कभी न चरण डिगने पावे॥

(५)

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः प्रमादतः सञ्चरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडितास्तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥

भावार्थ—हे देव ! यदि मेरे द्वारा इधर उधर घूमने फिरने वाले एकेन्द्री आदि (त्रस स्थावर) जीवों की प्रमाद से विराधना हुई हो, वे पीड़ित किये गये हों, मिलाये गये हों, पृथक् किये गये हों, तो सब दुष्कृत्य मिथ्या होवे ॥ ५ ॥

इक बे ते चौ अरु पंचेन्द्रिय जीव असैनी सैनी जान ।
चलते-फिरते मम प्रमादवश कष्ट लहो या मुए निदान ॥
सो सब दुष्कृत मिथ्या होवें तव प्रसाद हे दयानिधान ।
सब जिय क्षमा करें मम ऊपर मैंने भी की क्षमा प्रदान ॥

(६)

विमुक्तिमार्गप्रतिकूलवर्तिना, मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।
चारित्रशुद्धेर्यदकारि लोपनं, तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृतं प्रभो ! ॥

भावार्थ—हे प्रभो ! सन्मार्ग (मोक्ष-मार्ग) से विपरीत जो मैंने इन्द्रियों के विषय तथा कषाय के वश में होकर शुद्ध चारित्र का लोप कर दिया है, सो सब दुष्कृत्य मेरे मिथ्या होवें ॥ ६ ॥

परम शुद्ध स्वाधीन निराकुल सुखस्वरूप निज पद अमलान ।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिव-मग पेखो नहिं मैं अज्ञान ॥
अरु पुनि विषय कषायन वश हो किए घोर दुष्कृत्य महान ।
सो सब मिथ्या होवें हे प्रभु ! पाऊँ मोक्षमार्ग सुखदान ॥

(७)

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं मनोवचःकायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मंत्रगुणैरिवाखिलम् ॥

भावार्थ--मेरे, मन-वचन-काय तथा कषायों के द्वारा जो संसार-दुःखों के कारणभूत पाप कर्मों का संचय हुआ है, उसे मैं अपनी निन्दा, आलोचना व गर्हा करके उसी प्रकार निर्मूल करता हूँ, जैसे सुयोग्य वैद्य मन्त्र या दवा के योग से रोग व विष दूर करता है ॥ ७ ॥

काय वचन मन की चञ्चलता या कषाय परमाद विकार ।
वश मिथ्यात्व किये अघ मैंने भव दुःख कारण बहुत प्रकार ॥
सो आलोचन निन्दन गर्हण करके करूं निवारण सार ।
जैसे विष को मन्त्र योग से, करे वैद्य क्षण में सब क्षार ॥

(८)

अतिक्रमं यद्विमतेर्व्यतिक्रमं जिनातिचारं सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः प्रतिक्रमं तस्य करोमि शुद्धये ॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! मैंने चरित्र मार्ग में जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार या अनाचार, प्रमाद के वश में होकर किए हैं, सो सब प्रतिक्रमण करके शुद्ध करता हूँ ॥ ८ ॥

चौ कषाय अरु विकथा चारों इन्द्रिय विषय पंच परकार ।
निद्रा प्रणय सहित सब पंद्रह दोष प्रमाद महा अघकार ॥
इन वश अनाचार अतिचारु अतिक्रम व्यतिक्रम किये अपार ।
प्रतिक्रमण कर करूं शुद्ध मैं, हे जिन ! तव पद के आधार ॥

(९)

क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥

भावार्थ—मन के दुष्ट संकल्प-विकल्पों को अतिक्रम, शील-व्रतों का लांघना व्यतिक्रम, विषयों में प्रवर्तना अतिचार और

उनमें विलकुल ही आसक्त होजाना अनाचार कहलाता है ॥९॥

जो संकल्प विकल्प शुभाशुभ मन में उठें अतिक्रम सोय।
शीलवृतों का अंश उलंघन करे व्यतिक्रम जानों सोय॥
पंच करण वश अंश घात वृत अतीचार है ताको नाम।
हो स्वच्छन्द जो रमें विपय वश अनाचार सो दुख को धाम॥

(१०)

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवि! सरस्वतीं केवलबोधलब्धिम्॥

भावार्थ—हे सरस्वती! हे जिनवाणी माता! मुझ से प्रमादवश यदि अर्थ, पद, मात्रा और वाक्यादि से कुछ हीनाधिक कहा गया हो तो सब अपराध क्षमा होवे, ताकि मैं सर्वज्ञपद को प्राप्त हो सकूं॥ १०॥

यदि प्रमादवश अरु अज्ञान से कोई शब्द अर्थ की भूल।
पाठन पठन श्रवण समझन में होगई हो मुझसे प्रतिकूल॥
सो सब क्षमा दोष हों मेरे सरस्वती जिन वाणी माय।
वसु विधि क्षय कर निज रस राचूं केवल ज्ञानादिक गुण पाय॥

(११)

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिंतामणिं चिंतितवस्तुदाने, त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि!॥

भावार्थ—हे सरस्वती देवी! तू चिन्तामणि के समान चिंतित पदार्थ देने में समर्थ है, मैं तेरी वन्दना करता हूँ, ताकि मुझे बोधि, समाधि परिणामों की निर्मलता, स्वात्मा की प्राप्ति और मोक्ष सुख की सिद्धि होवे॥ ११॥

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण त्रय बोधि सुधार समाधि लगाय।
भावशुद्धि कर स्वात्मलब्धि लह शिवसुखसिद्धि लहूँ हे माय॥
तव प्रसाद यह सब कुछ पाउं चिन्तामणि सम परम उदार।
मन वांछित फल दाता माता नमस्कार तुह बारम्बार॥

(१२)

यः स्मर्य्यते सर्व्वमुनीन्द्रवृन्दैः, यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

भावार्थ—जो, मुनीन्द्र-वृन्दों (समूहों) से स्मरण किया जाता है, सर्व मनुष्य तथा देवों के स्वामी (चक्रवर्ती, इन्द्र) से पूजा जाता है, स्तुत्य है, जो वेद पुराण व शास्त्रों में वर्णित है, सो देवों के देव मेरे हृदय में निवास करो॥ ११॥

गणधरादि आचार्य गुरु मुनि जिसको ध्यावें ध्यान लगाय।
सुर नर विद्याधर पति जिसकी स्तुति करते गाय बजाय॥
वेद पुराणरु शास्त्रों माहीं, महिमा गाई अगम अपार।
सो देवों का देव निरन्तर वसो हमारे हृदय मंझार॥

(१३)

यो दर्शनज्ञानसुखस्वभावः, समस्तसंसारविकारबाह्यः।
समाधिगम्यः परमात्मसंज्ञः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

भावार्थ—जो अनन्त दर्शन, ज्ञान और सुख स्वरूप, संसार के समस्त विकारों से रहित हैं, समाधि के द्वारा जानने योग्य हैं और परमात्मपद का धारक है, सो देवों का देव हमारे हृदय में वास करो॥ १३॥

जिसके दर्शन ज्ञान अनन्ता सुख अरु वीर्य अनन्त प्रमान।
सर्व प्रकार विकार जगत के तिन विन वीतराग पहिचान॥

जो समाधि से जाना जावे अरु परमातम संज्ञा धार।
सो देवों का देव निरन्तर वसो हमारे हृदय मंझार॥

(१४)

निषूदते यो भवदुःखजालं, निरीक्षते यो जगदन्तरालम्।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

भावार्थ—जो संसार के जन्म-मरणादि दुःखों का निर्मूल कर्ता है, जिसने समस्त जगत को जान लिया है और जो योगिजनों द्वारा समाधि से जाना जाता है सो देवों का देव हमारे हृदय में वास करो॥ १४॥

जन्म जरा मरणादिक भव-दुख जिस प्रभु ने कीने निर्मूल।
अरु अलोक सह लोक वस्तु सब तीन काल की लखी समूल॥
सहज समाधि धार जिहँ योगी लखें स्वघट में योग सम्हार।
सो देवों का देव निरंतर वसो हमारे हृदय मंझार॥

(१५)

विमुक्तिमार्गप्रतिपादको यो, यो जन्ममृत्युव्यसनाद्यतीतः।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलंकः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

भावार्थ—जो मोक्ष-मार्ग का नेता (बताने वाला), जन्म-मरण आदि दुःखों से रहित, अलोक सहित तीनों लोकों को जानने वाला, अशरीर तथा कर्म कलंक से रहित है, सो देवों का देव मेरे हृदय में निरंतर रहो॥ १५॥

मोक्ष मार्ग जिसने बतलाया सब जीवों को सुखकारी।
अरु जिसको नहिं रंचमात्र भी जन्मजरामृतु दुख भारी॥
जो अलोक सह तीन लोक का ज्ञाता, रहित कर्म, अविकार।
सो देवों का देव निरन्तर वसो हमारे हृदय मंझार॥

(१६)

क्रोडीकृताशेषशरीरिवर्गाः, रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जिन राग द्वेषादि भावों के कारण संसार के समस्त जीव, कर्म से ग्रसे हुए, दुखी हो रहे हैं, उनको जिसने सम्पूर्ण रूप से निर्मूल कर दिया है तथा जो अतीन्द्रिय केवल-ज्ञान-स्वरूप अर्थात् पूर्णज्ञानी (सर्वज्ञ) और अनपाय (विनश्वर) है, सो देवों का देव मेरे हृदय में वास करो ॥ १६ ॥

जगत जीव जावंत चराचर जिनने सबको अपनाया ।
ऐसे उन रागादिक को भी जिस प्रभु ने है छुटकाया ॥
ज्ञानस्वरूपी परम अतीन्द्रिय अविनाशी अनुपम अविकार ।
सो देवों का देव निरन्तर बसो हमारे हृदय मंझार ॥

(१७)

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तेः, सिद्धो विबुद्धो धुतकर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

भावार्थ—जो समस्त जगत् का कल्याण करने वाला, अपने स्वरूप में रहता हुआ भी ज्ञानद्वारा समस्त लोका-लोक में व्यापक, सिद्ध, बुद्ध और शुद्ध अर्थात् कर्मबन्ध से रहित है, सो देवों का देव हमारे हृदय में वास करो ॥१७॥

ज्ञान अपेक्षा विश्व व्यापि जो निश्चय स्वात्मविलासी है ।
सिद्ध, बुद्ध सब कर्म नष्ट कर हुआ परम अविनाशी है ।
जगत जीव, कर ध्यान किसी का हरते हैं निज सकल विकार ।
सो देवों का देव निरन्तर बसो हमारे हृदय मंझार ॥

(१८)

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैः, यो ध्वांतसंघैरिव तिग्मरश्मिः ।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥

भावार्थ—जिसको, कर्म कलंक आदि दोष स्पर्श भी नहीं कर सके, जैसे सूर्य को अन्धकार स्पर्श नहीं कर सक्ता। जो निर्मल, नित्य, एक (द्रव्यापेक्षया, अभेदनय से) तथा अनेक स्वरूप (गुणापेक्षया भेदकल्पना से) है, मैं उस आप्तदेव की शरण को प्राप्त होता हूं ॥ १८ ॥

ज्ञानावरणादिक वसु विधि नहि जिसको सपरस कर सके।
जैसे उदय सूर्य के होते तम परमाणु न रह रुके॥
नित्य निरञ्जन अलख अरूपी एक अनेक अपेक्षित सार।
सो परमातम देव आप्त की लेता हूँ मैं शरण उदार॥

(१९)

विभासते यत्र मरीचिमाली, न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्मस्थितं बोधमयप्रकाशं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

भावार्थ—सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने (जानने) वाले जिस आप्त-सर्वज्ञ-के होते हुए सूर्य तुच्छ प्रतिभासित होता है, तथा जो ज्ञानमय प्रकाश से व्यापक होते हुए भी स्वात्मा में ही स्थित है, मैं उस आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूं ॥ १९ ॥

जिसका, रवि के भी अभाव में लोकालोक प्रकाशन हार।
रहे निरन्तर ज्ञान, ब्रह्म वह मोहतिमिर नाशक है सार॥
यद्यपि निज आतम स्थित है, तदपि हुआ है ज्ञेयाकार।
सो परमातम देव आपकी लेता हूं मैं शरण उदार॥

(२०)

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं, विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनंतं, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

भावार्थ—जिसके ज्ञान में समस्त जगत् स्पष्ट और प्रत्यक्ष, अपनी त्रिकालवर्ती अवस्थाओं सहित युगपत् दिखाई देता है तथा जो शुद्ध (कर्ममलरहित) शिव (कल्याण का करने वाला) शांत और अनादि अनन्त है, मैं, उस देवाधिदेव आप्त की शरण को प्राप्त होता हूं ॥ २० ॥

पृथक् पृथक् प्रत्यक्ष झलकते सकल पदार्थ यथारथ सार।
तीन काल की पर्यायों सह जिसके केवल ज्ञान मंझार ॥
पुन शिव रूप अनादि अन्त विन निर्मल नित्य शांत अविकार।
सो परमातम देव आप्त की लेता हूं मैं शरण उदार ॥

(२१)

येन क्षता मन्मथमानमूर्छा-विषादनिद्राभयशोकचिंताः।
क्षयोऽनलेनेव तरुप्रपञ्चः, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये ॥

भावार्थ—जिसने दावानल के समान (दावानल जैसे अल्प काल में तरु-समूह को भस्म कर देता है) अपनी ध्यानाग्नि से काम, मान, मूर्छा (ममत्व बुद्धि) विषाद (खेद) निद्रा, भय, शोक तथा चिन्ता आदि अंतरंग शत्रुओं को जला दिया है, मैं उस आप्त देव की शरण को प्राप्त होता हूं ॥ २१ ॥

जिसने काम मान अरु तृष्णा निद्रा भय विषाद अरु शोक।
चिंता आदि भस्म कर डारे ज्यों दावाग्नि वृक्षन का थोक ॥
निजमें निजको निजकर निजही निजहित निजसे रहो निहार।
सो परमातम देव आप्त की लेता हूं मैं शरण उदार ॥

(२२)

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः ॥

भावार्थ—समाधि के लिए, चटाई, भूमि, काष्ठादि की चौकी, पाषाणशिला और तृणादि का आसन ही उपयोगी एवं आवश्यक नहीं है, बल्कि रागद्वेषादि कषाय और विषयोंसे रहित स्वात्मा को ही बुद्धिमानों ने समाधि के योग्य माना है।

आसन घास उपल लकड़ी या भूमि आदि जाने जग जन।
पर समाधिहित राग द्वेष विन निज आतम ही वर आसन॥
ऐसा मत है विज्ञजनों का इससे वाह्य दृष्टि को त्याग।
द्रव्य भाव नोकर्मरहित निज आतम ही के अनुभव लाग॥

(२३)

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधनं न लोकपूजा न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतोभवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम्॥

भावार्थ—हे भद्र (आत्मन्) समाधि के साधन, न तो संस्तरादि होते हैं और न लोक की पूजा (आदर सत्कार) व किसी का सम्मेलन ही होते हैं, इसलिए समस्त बाह्यवासनाओं को त्याग करके निरन्तर अध्यात्म में ही मग्न रहो।

संघ मिलन अथवा जग पूजन, संस्तर नहिं समाधि-साधन।
किन्तु स्वात्मा राग द्वेष विन स्वसमाधि में है कारण॥
इसीलिए तज बाह्यवासना अंतर्दृष्टि सदा रखिये।
अरु निज आतम में निमग्न हो निज अनुभूती ही लखिये॥

(२४)

न संति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै॥

भावार्थ—संसार के कोई भी बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं और न मैं ही कदाचित् उनका हूँ, वे मुझसे,

और मैं उनसे, पर हूँ, ऐसा विचार कर, हे स्वात्मन् ! वाह्य वस्तुओं से मोह छोड़ स्वस्थ हो,जिससे तू मुक्त हो सके ॥२४॥

निज अन्तर आतम विन जेती वाह्य वस्तुएं जग की जान ।
सो नहिं होंय हमारी कवहूँ हम नहिं उनके होंय निदान ॥
ऐसा निश्चय करके मनमें जगके तज सव वाह्य विकार ।
स्वस्थ होय कर मुक्ति हेत तुम थिर होओ शिव पंथमँझार॥

(२५)

आत्मानमात्मन्यविलोक्यमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ।

भावार्थ-हे आत्मन् ! अपने आत्माको अपने ही आत्मा में देखने वाला तू दर्शन ज्ञान स्वरूप और निर्मल है। निश्चय से, अपने चित्त को एकाग्र करके साधुजन जहां कहीं भी स्थित होकर समाधि को प्राप्त कर लेते हैं ॥२५॥

निज आतम में ही निज आतम देखन जानन वारे हो ।
अनन्त ज्ञान दृग सुख वीरजमय पर भावों से न्यारे हो ॥
कर एकाग्र चित्त, हर चिन्ता, जो थिर हो निज ध्यान धरै ।
सो निज आत्मसमाधि पायकर साधु शीघ्र ही मोक्ष वरै ॥

(२६)

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
वहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता-न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ।

भावार्थ—मेरा आत्मा, नित्य, शुद्ध, एक, ज्ञानस्वभावी है, इसके सिवाय अन्य समस्त पदार्थ, मेरे स्वरूप से भिन्न हैं, और तो क्या ? स्वकीय कर्म ही नित्य नहीं हैं । तात्पर्य—मैं समस्त पर द्रव्य और उनकें भावों से रहित एक शुद्ध चैतन्य ज्ञाता दृष्टा नित्य अखंड आत्मा हूं ॥२६॥

एक शुद्ध चिद्रूप आत्मा सदा शाश्वता मेरा है।
निर्मल दर्शन ज्ञान स्वभावी निज में निज को हेरा है ॥
तिस बिन बाहिज द्रव्य कर्म भी शास्वत नहीं हमारे हैं।
ये हैं विनाशीक जड़ मूरत हम इन सब से न्यारे हैं ॥

(२७)

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

भावार्थ—जब कि शरीर भी, जो निरन्तर साथ रहता है, अपना नहीं है, तो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पुत्र, स्त्री, मित्रादि कैसे अपने हो सकते हैं? ठीक ही है, यदि शरीर पर का चर्म, उससे पृथक् कर दिया जाय तो, रोमछिद्र भला कैसे ठहर सकते हैं? नहीं ठहर सकते ॥२७॥

यह तन भी जब नहीं हमारा जिस संग निशदिन रहते हैं।
तो क्या नारि पुत्र मित्रादिक ये अपने हो सकते हैं ॥
जैसे चर्म देह ऊपर का पृथक् किसी विधि हो जावे।
तो फिर रोम छिद्र तिस ऊपर कहो कौन विधि रह जावे ॥

(२८)

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

भावार्थ—बाह्य पर वस्तुओं के संयोग होने से जीव संसार-वन में नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होता है, इसलिए यदि दुःखों से छूटकर शीघ्र ही मोक्ष-सुख प्राप्त करना चाहते हो, तो मन-वचन-काय से, समस्त पर वस्तुओं के सम्बन्ध का त्याग करो ॥२८॥

(२८)

पंच परावर्तन बहु कीने जियने भवकानन के मांह ।
दुःख सहे नाना प्रकार के पर संयोग थकी जग मांह ॥
इसीलिए मन वचन काय से सुधी तजो यह पर संयोग ।
जो चाहो सुख सदा शाश्वता और शुद्ध नित आतम भोग॥

(२६)

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥

भावार्थ—समस्त विकल्प जालों को, जो संसार रूपी गहन वन में भुलाने (डालने) वाले हैं, त्याग कर अपने शुद्धात्म-स्वरूप का अनुभव करते हुए परमात्म-स्वरूप में निमग्न हो जाओ, लीन हो जाओ ॥२६॥

सब विकल्प जालों को त्यागो जिससे भव वन भ्रमै सुजीव ।
लीन होउ निज शुद्ध रूप में जिससे पावो शांति सदीव ॥
भिन्न भिन्न लख आतम पुद्गल चेतन तथा अचेतन रूप ।
शुद्ध ज्ञान दृग सुख बल मय भज निजहीमें परमात्मस्वरूप॥

(३०)

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

भावार्थ—अपने पूर्वोपार्जित कर्म ही आपको शुभ किंवा अशुभ फल (सुख दुःख) देते हैं, अन्य कोई नहीं । यदि अन्य कोई भी आपको सुख दुःखादि देने लगे, तो अपने किए कर्म सब निष्फल ही ठहरेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होता, जो कर्म-कर्ता है, वह उनका फल भोक्ता भी है, यही सत्य है ॥ ३० ॥

जो जो कर्म किये जिय पूरब उदय उन्हीं का आता है।
पुण्य पाप फल सुख दुख, बहु विधि वही सर्वदा पाता है॥
यदि परकृत हों वे सुख दुख तो, निज कृत कर्म होंय बेकार।
सो नहिं यासों राग द्वेष तज संबर तथा निर्जरा धार॥

(३१)

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो, न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन्।
विचारयन्नेवम नन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम्।

भावार्थ—संसारी प्राणियों को उनके (अपने) उपार्जित कर्मों के सिवाय अन्य कोई किसी को कुछ भी नहीं देता, ऐसा विचार करके ही 'पर देता है' ऐसी बुद्धि को त्याग कर अपने ही शुद्ध स्वरूप में रम जाना चाहिये॥३१॥

जग जीवों को सुख दुख दाता पूर्वोपार्जित उनके कर्म।
तिन सिवाय किंचित् कोई भी दे नहिं सकता शर्म अशर्म॥
यों विचार एकाग्र चित्त कर तजो बुद्धि "पर है दातार"।
किन्तु आपही कर्म शुभाशुभ कर्ता, भोक्ता सुख, दुख भार॥

(३२)

यैः परमात्माऽमितगतिवन्द्यः, सर्वविविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभंते, मुक्तिनिकेतनं विभववरं ते॥

भावार्थ—अमितगति आचार्य से पूज्य, जो निर्दोष सर्वज्ञ अतिशयवान् शुद्ध परमात्मा है; उसका जो अपने अंतःकरण में एकाग्र चित्त होकर ध्यान करेंगे, वे नित्य अतीन्द्रिय अनुपम स्वाधीन सुख को पावेंगे। अतएव उसी का ध्यान करना चाहिए॥३२॥

अमितगती से वंदनीय जो परमातम निर्मल गुण खान।
अतिशय युक्त प्रशंसनीय अरु वीतराग सर्वज्ञ महान॥

ताको'दीप'वचन मन तन थिर करजो भवि करते नित ध्यान।
सो कर नष्ट अष्टविधि, पाते पावन मुक्ति-महल सोपान॥

(३२)

इति द्वात्रिंशता वृत्तैः परमात्मानमीक्षते।
योऽनन्यगतचेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम्॥

भावार्थ—उक्त बत्तीस छन्दों के द्वारा जो परमात्मा का एकाग्र चित्त से ध्यान करता है, वह शीघ्र ही परमपद (निर्वाण) को पाता है।

उपर्युक्त बत्तीस पद पढ़ परमातम ध्याय।
एक चित्त कर 'दीप' सो सुधि अक्षय पद पाय॥

लघु सामायिक।

(१)

सिद्धवस्तुवचो भक्त्या सिद्धान् प्रणमतां सदा।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम्॥

भावार्थ—हम, भक्तिपूर्वक जिनागम और सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करते हैं, वे कृत्यकृत्य, मोक्ष को प्राप्त, सिद्धपरमेष्ठी हमें अविनश्वर सिद्धि प्रदान करें।

दोहा—सकल निकल परमात्मा आगम गुरु निर्ग्रन्थ।
वन्दू कारण मोक्ष के ज्यों पाऊं शिवपन्थ॥१॥

(२)

नमोऽस्तु धूतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि।
सामायिकं प्रपद्येऽहं भवभ्रमणसूदनम्॥

भावार्थ-समस्त कर्म कलंक से रहित, श्री सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करके, महर्षियों के रहने योग्य एकांत और शांत स्थान में, स्थिर होकर मैं संसार-भ्रमण को मिटाने वाली सामायिक प्रारम्भ करता हूँ।

दोहा-द्रव्य-भाव-नोकर्म बिन सिद्ध स्वरूप विचार।
सामायिक प्रारभ करूं भव-भय नाशन हार ॥२॥

(३)

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
आशां सर्वां परित्यज्य समाधिमहमाश्रये ॥

भावार्थ—मेरे समस्त जीवों में समता भाव रहे, किसी से कभी भी वैर भाव न हो, तथा मैं समस्त इच्छाओं व आशाओं का त्याग कर निरंतर स्वात्मध्यान (समाधि) में निमग्न रहूं।

दोहा-समता सब प्राणिन विषैं वैर न कोई सङ्ग।
आशा तृष्णा त्याग के रचूं सु आतम रङ्ग ॥ ३ ॥

(४)

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा हा मया ये विराधिताः।
क्षमंतु जंतवस्ते मे तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः ॥

भावार्थ—मैंने रागद्वेष व मोह के वश होकर जिन २ जीवों का घात किया है, वे सब जीव मुझ पर क्षमा करें, मैं भी सब जीवों पर क्षमा करता हूं।

दोहा-राग द्वेष व मोहवश, जीव विराधे जेह।
क्षमा भाव मम तिन विषैं, ते पुनि क्षमा करेह ॥४॥

(५)

मनसा वपुषा वाचा कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवान् दोषान् गर्हे निंदामि वर्जये ॥

भावार्थ—मैंने जो मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना से रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) में दोष लगाए हैं, इसके लिए मैं अपनी निन्दा व गर्हा करके उनका परित्याग करता हूं।

दोहा–कृत कारित अनुमोदना, वा मन वच तन कोय।
दोष लगे त्रय रत्न में, निन्दूं गर्हूं सोय ॥५॥

(६)

तैरश्च्य मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन् सन्त्यजामि त्रिशुद्धितः ॥

भावार्थ—मैं देव, मनुष्यों व तिर्यंचों द्वारा होने वाले उपसर्ग व परिषह को शांत भाव से सहनेके लिए तत्पर हूँ, और शुद्ध मन वचन काय से इतने (सामायिक के) काल तक शरीर से ममत्व छोड़कर आहार व परिग्रह आदि कषायों का भी त्याग करता हूं।

दोहा–सहुं परिग्रह उपसर्ग वा सुर नर पशुकृत आय।
काय अहार कषाय को त्यागूं मन वच काय ॥६॥

(७)

रागं द्वेषं भयं शोकं प्रहर्षौत्सुक्यदीनताः।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥

भावार्थ–मैं मन वचन काय से राग, द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्साह, दीनता, रति, अरति आदि दोषों को आत्मघातक जानकर त्याग करता हूं, व सदा के लिए त्यागने की भावना भी करता हूं।

दोहा–रागद्वेष भय शोक रति, सामायिक के काल।
हर्ष विषादादिक सबहिं, तजूं त्रियोग सम्हाल ॥७॥

(८)

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये ।
बंधावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥

भावार्थ—मेरे सामायिक के काल में, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख आदि में हमेशा समता भाव रहे ॥ ८ ॥

दो०—सुख-दुख, जीवन-मरण, रिपु-मित्र, महल-उद्यान ।
त्यागूं इष्ट अनिष्टता, धारूं भाव समान ॥ ८ ॥

(९)

आत्मैव मे सदा ज्ञाने दर्शने चरणे तथा ।
प्रत्याख्याने ममात्मैव तथा संवरयोगयोः ॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्त्याग तथा कर्मों के आस्रव को रोकने व ध्यानादि में, एक मेरा आत्मा ही शरण है ॥ ९ ॥

दो०—सद्दग ज्ञान चरित्र, तप त्याग, सु संवर ध्यान ।
शरण अनन्य ममात्मा, इनमें निश्चय जान ॥ ९ ॥

(१०)

एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा बहिर्भवा भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥

भावार्थ—ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक मेरा आत्मा ही नित्य है, शेष, कर्मजनित रागादि भाव तथा शरीरादि बाह्य पदार्थ सब मेरे स्वरूप से भिन्न संयोग लक्षण वाले हैं, उनमें मेरा कुछ भी नहीं है ॥ १० ॥

दो०—शुद्धातम इक नित्य मम, ज्ञान दर्श सुख रूप।
बहिर्द्रव्य संयोग वा सब विभाव दुख कूप॥ १०॥

(३१)

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहं॥

भावार्थ—बाह्य पदार्थों के संयोग से तथा उनमें ममत्व करने से मेरे आत्मा ने अनादि काल से इस संसार में जन्म मरणादि बहुत प्रकार के दुःख सहे हैं, इसलिए मैं अपने मन वचन काय से उन सब कर्मों व कर्मजन्य भावों आदि समस्त बाह्य संयोग सम्बन्ध रूप पदार्थों का त्याग करता हूं॥ ११॥

दो०—परम्परा जिय दुख सहे, बाह्य वस्तु संयोग।
सो सँयोग सम्बन्ध को, तजूं सम्हार त्रियोग॥११॥

(३२)

एवं सामयिकात् सम्यक् सामायिकमखंडितम्।
वर्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूताय ते नमः॥

भावार्थ—इस प्रकार सामायिक पाठ में कही हुई रीति के अनुसार अखंडित सामायिक करने से जो महात्मा मुक्ति-रमणी के वश होगए हैं उनको पुनः पुनः नमस्कार करता हूं॥ १२॥

दो०—जिन सामायिक आदरी "दीप" अखंडित रूप।
मुक्ति-रमा के कंथ ते, नमों शुद्ध चिद्रूप॥ १२॥

संक्षिप्त द्वादशानुप्रेक्षा ।

* दोहा

द्रव्य दृष्टि से वस्तु थिर, पर्यय अथिर निहार ।
तासे योग वियोग में, हर्ष विषाद निवार ॥ १ ॥ अनित्य भा०
शरण न जियको जगत में, सुरनर खगपति सार ।
निश्चय शुद्धातम शरण, परमेष्ठी व्यवहार ॥ २ ॥ अशरण भा०
जन्म जरा गद मृत्यु भय, पुनि जहँ विषय कषाय ।
होवे सुख दुःख जीव को, सो संसार कहाय ॥ ३ ॥ संसार भा०
पाप पुण्य फल दुःख सुख, सम्पत विपत सदीव ।
जन्म जरा मृतु आदि सब, सहै अकेला जीव ॥४॥ एकत्व भा०
जा तन में नित जिय बसै, सो न आपनो होय ।
तो प्रतत्त जो पर द्रव, कैसे अपनो होय ॥ ५ ॥ अन्यत्व भा०
सुष्ठु सुगंधित द्रव्य को, करे अशुचि जो काय ।
हाड़ मांस मल रुधिर थल, सो किम शुद्ध कहाय ।६ अशुचि भा०
मन वनत शुभ अशुभ ये, योग आस्रव द्वार ।
करत बंध विधि जीवको, महाकुटिल दुखकार ।७॥आस्रव भा०
ज्ञान विराम विचार के, गोपै मन वच काय ।
थिर ह्वै अपने आप में, सो संवर सुखदाय ॥ ८ ॥ संवर भा०
पांचों इन्द्रिय दमन कर, समिति गुप्ति व्रत धार ।
इच्छा बिन तप आदरै, सो निर्जरा निहार ॥ ९ ॥ निर्जरा भा०
पुद्गल धर्म अधर्म जिय, काल जिते नभ मांहि ।
नराकार सो लोक में, विधिवश जिव दुख पांहि ।१०। लोक भा०
सबहि सुलभ या जगत में, सुर नर पद धन धान ।
दुर्लभ सम्यग्बोधि इक, जो है शिव सोपान ॥ ११ ॥ बोधि दुर्लभ भा०

जप तप संयम शील पुनि, त्याग धर्म व्यवहार।
"दीप" रमण चिद्रूप निज, निश्चय वृष सुखकार॥१२॥धर्म भा०

निरन्तर चिन्तनीय भावना।

प्र०—को मैं! यहां कहां से आया! और कौन थल जाता हूं।
कौन हितू मेरा! मैं किसको सत हित पंथ लगाता हूं॥
इन प्रश्नों का उत्तर जो नर सदा चिंतवन करता है।
सो नर "दीप" शीघ्र विधि त्रय कर शिव रमणी को वरता है॥
उ०—मैं सत् चित् आनन्द रूप हूं ज्ञाता दृष्टा सिद्ध समान।
द्रव्य भाव नो कर्म विना हूं असूर्तीक निर्मल गुणखान॥
यद्यपि द्रव्य शक्ति से हूं इम, पै अनादि विधि बंध विधान।
लख चौरासी रङ्ग भूमि में, नाचत पर में आपा मान॥ १॥
सद्गुरु देव धर्म विन जगमें हितू न कोइ किसी का जान।
पुत्र कलत्र मित्र गृह सम्पति, ये मम मोह कल्पना मान॥
इम विचार निज रूप चितारै पावै सम्यक् बोधि महान।
पुनि कर नष्ट अष्ट विधि पावै, शीघ्र "दीप" अविचल निर्वान॥

भक्त की तीन अवस्थाएँ।

"दासोऽहं" रटता प्रभो! आया जन तुम पास।
"द" दर्शत ही हट गयो, "सोऽहं" रह्यो प्रकास॥
"सोऽहं सोऽहं" ध्यावते रह्य नहिं सको सकार।
'दीप' 'अहं' मय हो गयो अविनाशी अविकार॥ १॥

सुख शान्ति ।

पढ़ो वेद वेदान्त सांख्य तुम, परब्रह्म का ध्यान करो ।
या माला शुभ तिलक लगाकर सगुण मूर्ति का ध्यान करो ॥
रहो देश में या विदेश में चाहे जाओ जहां कहीं ।
क्या जीवन सुख पाया तुमने जो तन में है शांति नहीं ॥

पण्डित हो उपदेशक वन तुम लोगों को उपदेश करो ।
या वाणिज्य गृहस्थी करके द्रव्यों से निज गेह भरो ॥
घर में रहो सभी से मिल कर या निर्जन वन वीच कहीं ।
मानव जन्म वृथा ही जानो जो मनमें हो शान्ति नहीं ॥ २ ॥

रहने को प्रासाद भले हो जिन में हो सव साज सजे ।
सोने को सेजें सुन्दर हों चाहे सुन्दर वाद्य वजे ॥
भूषण वसन सभी अच्छे हों रहे नहीं त्रुटि एक कहीं ।
तो भी क्या जीवन सुख होता जो मनमें है शान्ति नहीं ॥३॥

सुख के सव सामान सजे हों वैठे हों ढिग वन्धु कई ।
नाच रही हो नटी पास में ले ले करके तान नई ॥
पण्डित गुणी प्रधानों से हो भरा हुआ दर्वार अभी ।
जो मनमें है शान्ति नहीं तो विष समान ये दृश्य सभी ॥४॥

धन जन से परिपूरित हों हम सेवक जन भी पास खड़े ।
सव कुछ पढ़े लिखे अच्छे हों लोगों में विख्यात वड़े ॥
मित्र वैठ कर पास प्रेम से किया करें आलाप सही ।
तो भी ये सव व्यर्थ जगत में जो मनमें हो शान्ति नहीं ॥५॥

विद्या धन पाने पर तुम में अव न धनी में रहा विभेद ।
पाकर पत्नी रत्न जगत में पुत्र जन्म का रहा न खेद ॥

माना सब कुछ पाया तुमने छाया है जग सुयश महान।
किन्तु शान्ति सुखके आगे सब सुखको समझो धूल समान॥६

बैठे रहो कुटी के भीतर या जङ्गल के बीच खड़े।
या पर्वत की चोटी पर या रहो गुफा के मध्य पड़े॥
स्वजनहीन हो, पास नहीं फिर सोने को भी एक दरी।
तुमको है कुछ कष्ट नहीं जो मनमें हो सुख शांति भरी॥७॥

बाहिर से हम सुखी भले हों भीतर आग भवकती है।
रोते हैं हो हो व्याकुल हम अग्नि तनिक नहिं घटती है॥
करो कोटि उपचार यार यह सङ्कट क्या मिट सक्ता है।
बिना शान्ति सरिता में नहाए ताप नहीं मिट सक्ता है॥८॥

तज ईर्षा अभिमान क्रोध छल पर-निन्दा से दूर रहो।
रख जीवों पर दया किसी को कभी नहीं कटु वाक्य कहो॥
सबसे मिले रहो विनयी हो क्षमा शील सन्तोष गहो।
तभी शांति सुख मिल सक्ता है जब तुम जी से उसे चहो॥९॥

किसी अवस्था में रह कर भी सुख से समय बितावेंगे।
करके यही प्रतिज्ञा दुख में कभी नहीं घबरावेंगे॥
जग सीदन सोचें हम सब भी इन बातों को यदा कदा।
जीवन धन्य तभी है भाई जब मनमें हो शान्ति सदा॥ १०॥

दो०—नगर अरनि गिरि गुफा नदि, नहिं मठ महल मशान।
दीप शांति सुख निज निकट, देखो रक निज ध्यान॥

—(-*-)—(-*-)—

* श्रीपरमात्मने नमः *

श्री श्रावक-प्रतिक्रमण ।

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषाः ।
यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति ॥
तस्मात्तदर्थममलं गृहिबोधनार्थम् ।
वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ—संसारी जीवों के प्रमाद से जो अनेकों दोष उत्पन्न हुआ करते हैं, वे प्रतिक्रमण से दूर किये जाते हैं, इसीलिए मैं (कर्ता) गृहस्थ श्रावकों को, विशेष परिज्ञान कराने के लिये उस, सांसारिक नाना प्रकार के कर्मों को नष्ट करने वाले "प्रतिक्रमण" को कहता हूं ॥ १ ॥

पापिष्ठेन दुरात्मना जडधिया मायाविना लोभिना ।
रागद्वेषमलीमसेन मनसा दुष्कर्म यन्निर्मितम् ॥
त्रैलोक्याधिपतेर्जिनेन्द्र भवतः श्रीपादमूलेऽधुना ।
निंदापूर्वमहं जहामि सततं वर्वर्तिषुः सत्पथे ॥ २ ॥

अर्थ—मैं पापी, दुष्ट, मन्द-बुद्धि, मायाचारी और लोभी हूं। मैंने अपने रागद्वेष युक्त मन से जो बहुतसा पापकर्म कमाया है, उसे मैं हे जिनेन्द्र देव! तीन लोक के अधिपति आप के पादमूल में रहकर निन्दापूर्वक छोड़ता हूं, क्योंकि अब मेरी सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) में रहने की उत्कट इच्छा है ॥ २ ॥

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मम ण केणवि ।। ३ ।।

अर्थ—मैं सर्व जीवों पर क्षमा करता हूं, सबे जीव मुझ पर भी क्षमा करें। मेरी समस्त प्राणियों से मित्रता है, वैर किसी से भी नहीं है ।। ३ ।।

रागं बन्धं य दोष च हरिसं दीणभावयम् ।
उत्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ।। ४ ।।

अर्थ—मैं राग, द्वेष, हर्ष, दीनता, उत्सुकता, भय, शोक, रति और अरति आदि सर्व वैभाविक भावों का त्याग करता हूं ।। ४ ।।

हा दुट्ठ कयं हा दुट्ठ चिंतियं भासियं च हा दुट्ठं ।
अन्तो अन्तो डज्झमि पच्छात्तावेण वेयन्तो ।। ५ ।।

अर्थ—बड़े दुख की बात है, कि मैंने काय से दुष्ट काम किये, मन से भी दुष्टतापूर्ण विचार किया और इसी प्रकार कलुषित निन्द्य वचनों का भी प्रयोग किया; इस पर मैं पश्चात्ताप करता हुआ हार्दिक दुख का अनुभव करता हूं ।। ५ ।।

एइन्दिय, वेंदिय, तेंदिय, चउरेंदिय, पंचेंदिय, पुढविकाइय, आउकाइय तेउकाइय वाउकाइय वणप्फदिकाइय तसकाइय एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा ।
कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, बनस्पतिकाय और त्रसकाय इन जीवों को मैंने स्वयं कष्ट दिया हो,

अन्य को प्रवृत्त किया हो, या कष्ट पहुँचाने वालों की अनु-मोदना की हो, उनको संताप स्वयं दिया हो, दिलाया हो, देने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सब दिनभर का मेरा पाप मिथ्या होवे।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्तीय।
बम्भारंभ परिग्गह अणुमयमुद्दिट्ठ देसविरदेदे॥

भावार्थ—दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, प्रोषध-प्रतिमा, सचित्तत्यागप्रतिमा, रात्रिभक्तत्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरंभत्यागप्रतिमा, परिग्रहत्यागप्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा, उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—ये ग्यारह प्रतिमायें देशव्रती (पंचमगुणस्थानवर्ती) श्रावक के हुआ करती हैं।

एयासु यथाकहिद पडिमासु पमाइकया।
इचारसोइणट्ठं छेदोपट्ठावणं होउ मज्झं॥

भावार्थ—ऊपर कही हुई ग्यारह प्रतिमाओं में यदि प्रमाद के कारण कोई अतीचार-(दोष) लग गया हो तो उसको दूर करने के लिए 'छेदोपस्थापन' (लगे हुए दोषों को दूरकर फिर से व्रतको धारण करना) धारण करना चाहिए।

अरहंत सिद्ध आयरिय उवज्झाय सव्वसाहु सक्खियं।
सम्मत्तपुव्वं सव्वगं दिढव्वदं समारोहियं मे भवदु मे भवदु॥

भावार्थ—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु की साक्षी में सम्यक्त्व-पूर्वक मेरे उत्तम दृढ़व्रत अङ्गीकार हो।

देवसिय पडिक्कमणाए सव्वाइचारसोहणिमित्तं
पुव्वाचरियकमेण आलोयणं सिरी सिद्धभत्ति काउस्सग्गं करेमि—

णमोअरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।
णमोउवभ्भायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अर्थ—दैनिक प्रतिक्रमण में उत्पन्न हुए सर्व दोषों को दूर करने के लिए पूर्वाचार्यों के अनुसार आलोचनापूर्वक श्री सिद्ध-भक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ (यहाँ णमोकार मंत्रकी जाप करना चाहिए) ॥

थोस्साम्यहं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंत जिणे ।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥ १ ॥

लोयस्स जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चेव केवलिणो ॥ २ ॥

उसहमजियं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पोमप्पहं सुपासं जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ ३ ॥

सुविहिं च पुप्फयंतं सीयल सेयं च वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ४ ॥

कुंथुं च जिणवरिंदं अरं च मल्लिं च सुव्वयं च णमिं ।
वंदाम्यरिट्ठणेमिं तह पासं वड्ढमाणं च ॥ ५ ॥

एवमए अभित्थुणा विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ६ ॥

अर्थ—मैं उन तीर्थङ्कर केवली और अनन्त जिनेन्द्रों का स्तवन करता हूँ, जो चक्रवर्ती आदि उत्तम लोगों कर पूजित हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा से कर्मरूपी रजोमल को धो डाला है तथा जो बड़ी भारी महिमा को भी प्राप्त हैं। जो चौबीस तीर्थङ्कर केवली सारे लोक का कल्याण करने वाले

हैं और धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक हैं, मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभु, सुविधि (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और वर्द्धमान—इस प्रकार मेरी स्तुति के विषयभूत, कर्मरज तथा जरा-मरण से भी रहित ये चौवीसों तीर्थङ्कर केवली मुझ पर प्रसन्न होवें।

—:०:—

यहां से प्रत्येक प्रतिमा का अलग २ "प्रतिक्रमण" बतलाया जाता है।

पडिक्कमामि भंते दसणपडिमाए संखाए कंखाए विदिगिच्छाए परपासंडाणपसंसाए च संथ्थूए जो मए देवसिउ अइचारो अणाचारो मणसा वचिथा काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—दर्शनप्रतिमा में मैंने यदि जिनकथित तत्त्वों के स्वरूप में शंका की हो, सांसारिक सुखको चाहा हो, व्रतधारियों को देख ग्लानि की हो अथवा किन्हीं अन्य पाखण्डियों की प्रशंसा या स्तुति करके मन, वचन, काय से स्वयं अतीचार या अनाचार किया हो, कराया हो अथवा करते हुओं की प्रशंसा की हो तो यह सब मेरा दिनभर का पाप मिथ्या हो॥

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए पढमे थूलयडे हिंसाविरदिवदे वहेण वा बधेण वा छेयणेण वा अइभारारोहणेण वा अण्णपाणणिरोहणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचसा काएण कदो वा कारिदो वाकीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। व्रत-प्रतिमा के अन्दर प्रथम, स्थूलहिंसा के त्यागरूप अहिंसाणुव्रत में वध, बंधन, छेदन (नाक कान आदि छेदना) अतिभारा-रोपण और अन्नपाननिरोध—इन पाँच कामों के द्वारा यदि मैंने स्वयं अतिचार किया हो, कराया हो, या करने वालों की प्रशंसा की हो तो यह सब मेरा दिवससम्बन्धी दोष मिथ्या होवे ।

पडिक्कमामिभंते वदपडिमाए विदिए थूलयडे असच्चविरदि मिच्छो-वदेसेण वा रहोअभक्खाणेण वा कूडलेहकरणेण वा णासापहारेण वा सायारमंतभेयणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचसा काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—हे परमात्मन् ! मैं व्रतप्रतिमा में प्रतिक्रमण करता हूँ—यदि मैंने व्रतप्रतिमा के दूसरे स्थूल असत्यत्याग (सत्याणुव्रत) में मिथ्योपदेश (खोटा उपदेश) रहोभ्या-ख्यान (एकान्त में अनुष्ठित स्त्री पुरुषादिक की गोपनीय क्रियाओं का प्रगट करना) कूटलेखकरण (दस्तावेज वगैरह पर झूठी साक्षी आदि करना) न्यासापहार (किसी के, बतौर अमानत के रक्खे हुए, धन का हरण करना) अथवा साकार-मन्त्रभेद (किसी की मुखाकृति आदि को देखकर उसके अन्दरूनी अभिप्राय को जान प्रकट कर देना) के द्वारा

मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से दोष लगाया हो तो वह सब दिन भर का दोष मिथ्या हो।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए तदिए थूलयडे थेणविरदिवदे थेणपओगेण वा थेणहरियादाणेण वा विरुद्धरज्जाइक्कमणेण वा हीणाहियमाणुम्माणेण वा पडिरूवयववहारेण वा जो मए देवसिउ अइचारो-मणसा वचसा काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे भगवन्! मैं अचौर्याणुव्रत में प्रमाद से लगे हुए दोषों को दूर करता हूँ—यदि मैंने व्रतप्रतिमा के तीसरे स्थूल स्तेनविरतिव्रत (अचौर्याणुव्रत) में, स्तेनप्रयोग (चोरी के लिये प्रेरणा करना) स्तेनाहरितादान (चोरी की वस्तु का ग्रहण करना) विरुद्धराज्यातिक्रम (राजनियमों के विरुद्ध प्रवृत्ति करना, सामान पर नियमित रूप से लगने वाले कर (टैक्स) आदि न चुकाना) हीनाधिकमानोन्मान (नाप तौल के बाँट वगैरह नियमित प्रमाण से कम या अधिक प्रमाण के रखना) और प्रतिरूपकव्यवहार (अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्य की सदृश वस्तु मिलाकर बेचना) इनके द्वारा जो मन, वचन और काय से स्वयं दोष लगाया हो, दूसरों को प्रवृत्त किया हो तथा स्वयं प्रवर्तने वालों की प्रशंसा की हो तो वह सब मेरा दिन भर का दोष मिथ्या हो।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए चउथे थूलयडे अबंभविरदिवदे परविवाहकरणेण वा इत्तरियागमणेण वा परिग्गहिदापरिग्गहिदागमणेण वा अणंगकीडणेण वा कामतिव्वाभिणिवेसेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे देवाधिदेव ! मैं लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करता हूँ। व्रतप्रतिमा के अन्दर चतुर्थ स्थूल अब्रह्मविरति-व्रत (ब्रह्मचर्याणुव्रत) में परविवाहकरण (अन्य का विवाह करना) इत्वरिकागमन (वेश्या से सम्बन्ध रखना) परिगृहीतापरिगृहीतागमन (विवाहित या अविवाहित (कन्या वगैरह) स्त्री जनों से सम्पर्क रखना) अनंगक्रीडा (काम सेवन के अङ्गों को छोड़ भिन्न अङ्गों से क्रीड़ा करना) और कामतीव्राभिनिवेश (काम सेवन की उत्कट अभिलाषा) के द्वारा यदि मैंने स्वयं मन वचन काय से अतिचार लगाया हो, दूसरे को प्रवृत्त किया हो तथा स्वयं प्रवर्तने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सब दिवस सम्बन्धी दोष मिथ्या होवे।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए पंचमे थूलयडे परिग्गहपरिमाण-वदे खेत्तवत्थूणपरिमाणाइक्कमणेण वा धणधाण्णाण परिमाणाइक्कमणेण वा हिरण्णसुवण्णाणं परिमाणाइक्कमणेण वा दासीदासाणं परिमाणाइक्कमणेण वा कुप्पपरिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे वीतरागदेव ! मैं लगे हुए दोषों पर पश्चात्ताप करता हूँ - व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत पंचम अणुव्रत परिग्रह-परिमाणाणुव्रत में यदि मैंने क्षेत्रवास्तुपरिमाणातिक्रम (खेत और मकान वगैरह के प्रमाण का लांघना) धनधान्य-परिमाणातिक्रम (धन–गाय, बैल, हाथी, घोड़ा वगैरह, धान्य–गेहूं, जुवार वगैरह अनाज, के नियमित प्रमाण का उल्लंघन करना) हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम (सोना चांदी आदि के

प्रमाण का लांघना) दासीदासप्रमाणातिक्रम (दास-दासियों के निश्चित प्रमाण का अतिक्रमण करना) और कुप्यप्रमाणातिक्रम (वस्त्र वर्तन आदि के सीमित प्रमाण का उल्लंघन करना) के द्वारा स्वयं मन, वचन, काय से दोष पैदा किया हो, कराया हो और करने वालों की अनुमोदना की हो तो वह दिवस सम्बन्धी सर्व दोष व्यर्थ होवे।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए पढमे गुणव्वदे उड्ढवाइक्कमणेण वा अहोवइक्कमणेण वा तिरियवइक्कमणेण वा खेत्तवड्ढया वा सदिअंतराधाणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं ॥

अर्थ—हे त्रैलोक्याधिपते ! मैं अपने दोषों को दूर करता हूँ। व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत प्रथम गुणव्रत (दिग्व्रत) में ऊर्ध्वव्यतिक्रमण (ऊपर–पर्वतादि की मर्यादा का लाँघना) अधोव्यतिक्रमण (गुफा वावड़ी वग़ैरह अधोदिशा की मर्यादा का उल्लङ्घन करना) तिर्यग्व्यतिक्रमण (तिरछी मर्यादा का अतिक्रमण करना) क्षेत्रवृद्धि (मर्यादित क्षेत्र को बढ़ाना) और स्मृत्यन्तराधान (गृहण की हुई मर्यादा का भूल जाना) इनके द्वारा यदि मैंने स्वयं मन, वचन, काय से अतिचार किया हो, कराया हो या करने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सब दिवससम्बन्धी मेरा दोष मृषा हो।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए विदिए गुणव्वदे आणयणेण वा विणिजोगेण वा सद्दाणुवाएण वा पुग्गलखेवेण वा जो मए देवसिउ अइचारो

मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स इच्छामि दुक्कडं ॥

अर्थ—हे निर्मोह ! मैं किये हुए दोषों पर पश्चात्ताप करता हूँ। व्रतप्रतिमा के द्वितीय गुणव्रत अर्थात् देशव्रत में यदि मैंने आनयन (नियमित सीमा के बाहिर से किसी वस्तु का मँगाना) विनियोग (नौकर वग़ैरहको लानेके लिये आज्ञा देना) शब्दानुपात (मर्यादा के बाहर शब्द करना) रूपानुपात (मर्यादा के बाहिर अपने शरीरादि को दिखा कर कार्य कराना) पुद्गलक्षेप (मर्यादा के बाहिर कङ्कड़ पत्थर वग़ैरह फेंकना) के द्वारा स्वयं दोष लगाया हो या उसमें दूसरे को प्रवृत्त किया हो अथवा प्रवर्तने वालों की प्रशंसा की हो तो वह सब दिन भर का मेरा दोष मिथ्या होवे।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए तदिए गुणव्वदे कंदप्पेण वा कुक्कुचिएण मोख करिएण वा असमिक्खयाहिकरणेण वा भोगोपभोगाणत्थकेण जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स इच्छामि दुक्कडं ॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ देव ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत तृतीय अनर्थदण्डव्रत नामा गुणव्रत में कन्दर्प (राग से हास्यमिश्रित अशिष्ट, असभ्य या निन्द्य वचनों का प्रयोग करना) कौत्कुच्य (काय की कुचेष्टा) मौखर्य (व्यर्थ का वकवाद) असमीक्ष्याधिकरण (प्रयोज़न को न देख कर अधिकता से कार्य करना) और भोगोपभोगानर्थक्य (जितनी भोगोपभोगसामग्री से कार्य चल सकता है, उससे भी अधिक रखना) इन पाँचों के द्वारा जो

मैंने मन वचन काय से विराधना की हो, करायी हो या करने वालों की प्रशंशा की हो तो वह दिन भर का मेरा पाप मिथ्या होवे।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए पढमे सिक्खावदे फासिंदिय-भोगपरिमाणाइक्कमणेण वा रसणिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा घाणिं-दिंयभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा चक्खिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा सवणिंदियभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ – मैं प्रतिक्रमण करता हूँः— व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत प्रथम शिक्षाव्रत (भोगपरिमाणव्रत) में यदि मैंने स्पर्शन इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, श्रवण इन्द्रिय इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द) में ली हुई मर्यादा का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से उल्लंघन किया हो तो वह मेरा दिन भर का सब दोष मिथ्या होवे।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए विदिये सिक्खावदे फासिंदियपरि-भोगपरिमाणाइक्कमणेण वा रसणिंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा घाणेंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा चक्खिंदियपरिभोगपरिमाणा-इक्कमणेण वा सवणिंदियपरिभोगपरिमाणाइक्कमणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कादो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणु-मणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—मैं लगे हुए दोषों पर पश्चात्ताप करता हूँ। व्रत-प्रतिमा के अन्तर्गत द्वितीय शिक्षाव्रत (परिभोगपरिमाणव्रत)

में यदि मैंने स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रवण, इन पांचों इन्द्रियों के उपभोग (जो वस्तु बार २ भोगने में आसके, जैसे वस्त्र बर्तन स्त्री आदि) विषयों के नियमित प्रमाण का मन, वचन, काय से उल्लंघन किया हो, कराया हो अथवा करने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सब मेरा दिन भर का अपराध निरर्थक हो।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए तदिये सिक्खावदे सचित्तणिक्खेवेण वा सचित्तपिहाणेण वा परववएसेण वा कालाइक्कमणेण वा मच्छरिएण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—मैं अपने किए हुए दोपों का प्रतिक्रमण करता हूँ। वृतप्रतिमा के अन्तर्गत तृतीय शिक्षाव्रत (अतिथिसंविभागव्रत) में यदि मैंने सचित्तनिक्षेप (सचित्त पत्ते आदि पर भोज्य वस्तु रखना) सचित्तपिधान (सचित्त पत्रादि के द्वारा भोज्य वस्तु का ढांकना) परव्यपदेश (आहारार्थ दूसरे दाता के यहां भोज्य सामग्री भेजना) कालातिक्रमण (आहार के समय को टालकर भोजन कराना) और मात्सर्य (अनादर से दान देना या दूसरे दाता के गुणों को न सह सकना) इनके द्वारा मन, वचन, काय से स्वयं दोष उत्पन्न किया हो, कराया हो अथवा करने वालों की प्रशंशा की हो तो वह सब दिन भर का मेरा दोष मिथ्या होवे।

पडिक्कमामि भंते वदपडिमाए चउत्थे सिक्खावदे जीविदासंसणेण वा मरणासंसणेण वा मित्ताणुराएण वा सुहाणुबंधेण वा णिदाणेण वा जो

मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—हे मोहारिविजेता ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ । व्रत प्रतिमा के अन्तर्गत चतुर्थ शिक्षाव्रत (सल्लेखना) में यदि मैंने जीने की इच्छा, असह्य वेदना के कारण मरने की इच्छा, मित्रानुराग, पूर्व में भोगे हुए सुखों का स्मरण अथवा निदान (आगामी भव में भोगों की इच्छा) से स्वयं दोष लगाया हो, अन्य को प्रवृत्त किया हो अथवा स्वयं प्रवर्तने वालों की प्रशंशा की हो तो वह मेरा दिन भर का मन, वचन काय-सम्बन्धी पाप दूर हो ।

॥ इति व्रतप्रतिमा का प्रतिक्रमण ॥
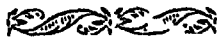
तृतीय प्रतिमा का प्रतिक्रमण ।

पडिक्कमामि भंते सामाइयपडिमाए मणदुप्पणिधाणेण वा वागदुप्पणिधाणेण वा कायदुप्पणिधाणेण वा अणादरेण वा सदिअणुवट्ठाणेण जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—हे त्रिजगत्पते ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँः– तृतीय सामायिक प्रतिमा में, मन की दुष्ट प्रवृत्ति, वचन की दुष्ट प्रवृत्ति, काय की दुष्ट प्रवृत्ति, सामायिक के विषय में अनादर या पाठ (सामायिक पाठ) का विस्मरण, इनके द्वारा यदि

मैंने मन, वचन और काय से स्वयं दोष लगाया हो, अन्य को उसमें प्रवृत्त किया हो या स्वयं प्रवृत्ति करने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सब मेरा दिवससम्बन्धी पाप मिथ्या हो।

चतुर्थ प्रतिमा का प्रतिक्रमण।

पडिकमामि भंते पोसहपडिमाए अप्पडिवेक्खियापमज्जियोत्सग्गेण वा अप्पडिवेक्खियापमज्जियादाणेण वा अप्पडिवेक्खियापमज्जियसंथरोवक्कमणेण वा आवस्सयाणादरेण वा सदिअणुव्वठाणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे परमेश्वर ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ—प्रोषधप्रतिमा में यदि अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग (चक्षु से वगैर देखे और पीछी आदि के द्वारा वगैर शोधे ही भूमि पर मलमूत्रादि छोड़ना) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान (विना देखे शोधे ही पूजा के उपकरण तथा वस्त्रादिकों का ग्रहण करना) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण(विना देखे शोधे ही विस्तर आदि विछाना) आवश्यकानादर (भूख से पीड़ित होकर आवश्यक क्रियाओं का अनादर करना) और स्मृत्यनुपस्थान (विधि का स्मरण न रहना) के द्वारा यदि मैंने मन,वचन और काय से स्वयं अतिचार लागाया हो, उसमें दूसरे को प्रवृत्त किया हो या स्वयं प्रवर्तने वालों की प्रशंसा की हो तो वह दिन भर का मेरा दोष व्यर्थ होवै।

पांचवीं प्रतिमा का प्रतिक्रमण।

पडिक्कमामि भंते सचित्तविरदिपडिमाए पुढविकाइया जीवा संखेज्जासंखेज्जा आउकाइया जीवासंखेज्जासंखेज्जा तेउकाइया जीवा-संखेज्जासंखेज्जा वाउकाइया जीवासंखेज्जासंखेज्जा वणप्फदिकाइया जीवा अणंताणंता हरिदाइया अंकुरा छिण्णा भिण्णा एदेसिं उद्दावणं परिदावणं विराहणं उवघादो कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे परमज्योति भगवन्! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। पंचम सचित्तविरत प्रतिमा में, यदि मैंने असंख्यातासंख्यात पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा अनंतानन्त वनस्पतिकायिक एवं हरित अंकुर वगैरह, इन जीवों का मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनु-मोदना से छेदन भेदन किया हो, इनको संताप या कष्ट पहुँचाया हो, अथवा इनके प्राणों का घात किया हो तो वह सब दिवससम्बन्धी मेरा पाप निष्फल होवै।

षष्ठम प्रतिमा का प्रतिक्रमण।

पडिक्कमामि भंते राइभत्तपडिमाए णवविहबंभचरियस्स दिवा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे मोहान्धकारविनाशकचण्डमार्तंड! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ:—छठवीं रात्रिभक्तत्यागप्रतिमा में यदि मैंने दिन में नव प्रकार ब्रह्मचर्य में मन, वचन, काय से स्वयं

दोप लगाया हो, अन्य को उसमें प्रवृत्त किया हो अथवा प्रवर्तने वालों की प्रशंसा की हो तो वह सब मेरा दिन भर का पाप मिथ्या होव।

सातवीं प्रतिमा का प्रतिक्रमण।

पडिक्कमामि भंते इत्थिकहायत्तणेण वा इत्थिमणोहरंगणिरिक्खणेण वा पुव्वरयाणुस्मरणेण वा मुवकोपणरसासेवणेण वा शरीरमंडणेण वा जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे अनंगरम्य ! मैं प्रतिक्रमण करता हूं। सातवीं ब्रह्मचर्यप्रतिमा में, स्त्रीसम्बन्धी कथाओं के कहने या सुनने से, उनके रमणीय मुख, स्तन आदि अंगों के देखने से, पूर्वानुभूत भोगों के स्मरण से, कामोत्पादक गरिष्ठ पदार्थों के भक्षण से या शरीरशृङ्गार से यदि मैंने दोष लगाया हो, दूसरे को इनमें प्रवृत्त किया हो अथवा प्रवर्तने वालों की अनुमोदना की हो तो यह मेरा मन, वचन, कायसम्बन्धी सर्व दोष मिथ्या हो।

आठवीं प्रतिमा का प्रतिक्रमण।

पडिक्कमामि भंते आरंभविरदिपडिमाए कसायवसंगएण जो मए देवसिउ आरंभो मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमणिदो तस्समिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे निष्कलंक ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, आठवीं आरम्भविरतप्रतिमा में यदि मैंने कषायों के वश होकर मन, वचन, काय से आरम्भ किया हो, कराया हो, अथवा करने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सारे दिन का मेरा पाप मिथ्या हो ।

नवमीं प्रतिमा का प्रतिक्रमण ।

पडिक्कमामि भंते परिग्गहविरदिपडिमाए वत्थमेत्तपरिग्गहादो अवरम्मि परिग्गहे मुच्छापरिणामे जो मए देवसिउ अइचारो मणसा वच्चिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स-मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—हे केवलिन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हूं—नवमीं परिग्रहविरत प्रतिमा में यदि मैंने वस्त्र मात्र परिग्रह को छोड़ शेष किसी भी वस्तु में ममत्वभाव धारण कर मन, वचन, काय से स्वयं दोष उत्पन्न किया हो, कराया हो अथवा करने वालों की अनुमोदना की हो तो वह सब मेरा दिन भर का पाप निष्फल हो ।

दशमीं प्रतिमा का प्रतिक्रमण ।

पडिक्कमामि भंते अणुमइविरदिपडिमाए जं किंचि अणुमणणं पुट्ठापुट्ठेण कदं वा कारिदं वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स-मिच्छामि दुक्कडं ।

अर्थ—हे प्रभो ! मैं प्रतिक्रमण करता हूं—दशमीं अनुमतिविरत प्रतिमा में यदि मैंने पूछ कर या विना पूछे ही

अनुमोदना कर अतिचार लगाया हो, उसमें अन्य को प्रवृत्त किया हो अथवा करने वालों की प्रशंसा की हो तो वह सब मेरा दिन भर का अपराध क्षमा हो।

ग्यारहवीं प्रतिमा का प्रतिक्रमण।

पडिक्कमामि भंते उद्दिट्ठविरदिपडिमाए उद्दिट्ठदोसबहुलं अहादियं आहारियं वा आहाराविदं वा आहारिज्जंतं समणुमणिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे कर्मरजविहीन! मैं अपने लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ—ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा में यदि मैंने बहुत से उद्दिष्ट दोषों कर सहित भोजनादि स्वयं किया हो, कराया हो अथवा करने वालों की प्रशंसा की हो तो वह सब मेरा दिवससम्बन्धी पाप मिथ्या हो।

इच्छामि भंते इमं णिग्गंथं पावयणं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेगाइयं सामाइयं संसुद्धं सल्लघत्ताणं सिद्धिमग्गं सेढिमग्गं खंतिमग्गं मोत्तिमग्गं मोक्खमग्गं पमोक्खमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं अविहतमविसंति पवयणमुत्तमं तं सद्दहामि तं पत्तियामि तं रोचेमि तं फासेमि इदो उत्तरं अण्णं णत्थि ण भूद ण भवं भविस्सदि णाणेण वा दंसणेण वा चरित्तेण वा सुत्तेण वा इदो जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति पडिवियाणंति समणोमि संजदोमि उवरदोमि उवसंतोमि उवधिणियडिमाणमायमोसमूरण मिच्छणाण मिच्छदंसण मिच्छचारित्तं च पडिविरदोमि सम्मणाणं सम्मदंसण सम्म-

रिरां च रोचेमि जं जिणवरेहिं पएणत्तो इत्थं मे जो कोवि देवसिउ राइंउ अइचारो अणाचारो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

अर्थ—हे सन्मार्गप्रदर्शक ! मैं इस निग्रन्थपद की इच्छा करता हूं। यह निग्रन्थपद पापों से रहित, अनुपम, केवलीसम्बन्धी, आत्मस्वरूप, विशुद्ध, शल्यत्रय का घातक, सिद्धि का मार्ग, उपशम या क्षपक श्रेणी के चढ़ने का कारण, क्षमा का निमित्त, मुक्ति का उपाय, मोक्ष का मार्ग, उत्कृष्ट मोक्ष का साधन, संसारपरिभ्रमण का नाशक, निर्वाण का निमित्त, सर्व दुःखों की हानि करने वाला, उत्तम चारित्ररूपी निर्वाणका साधक, वाधा से रहित,निर्वाध प्रवचनस्वरूप और उत्तम है।

मैं उसी निर्ग्रन्थ पद का श्रद्धान करता हूं और उसी को स्वीकार भी करता हूँ, वही मुझे विशेष रुचिकर है, उसका मैं स्पर्श करता हूँ। इससे उत्कृष्ट और कोई दूसरा न तो वर्तमान में है न हुआ है और न भविष्य में होगा ही।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और सूत्रके द्वारा इसी निर्ग्रन्थ-पद का आश्रयण करके ही जीव, सिद्धि (मुक्ति) या निर्वाण को प्राप्त कर सर्व दुखों का नाश करते हैं तथा तीनों लोक के सर्व पदार्थों को जानने भी लगते हैं।

मैं उस निर्ग्रन्थपद को धारण करने के लिये इच्छुक हूँ, संयम धारण करने के लिये उद्यत हूँ तथा विषयाभिलाष से भी रहित हूँ—मेरी विषयाभिलाषा शान्त होगई है, मैं उपधि, परिग्रह, मान, माया, असत्य, मात्सर्य, मिथ्याज्ञान, मिथ्या-दर्शन और मिथ्याचारित्र का त्याग करता हूँ। जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, थीं जिनेन्द्रदेव से कहे गये

हैं वे ही अब मुझे अधिक रुचते हैं। इनके विषय में यदि मैंने दिवस या रात्रि सम्बन्धी कोई अतिचार या अनाचार लगाया हो तो वह सब मेरा दोष व्यर्थ हो।

इच्छामि भंते वीरभत्तिं काउस्सग्गं करेमि जो मए देवसिउ राईउ अइचारो अणाचारो आभोगो अणाभोगो काईउ वाईउ माणसिउ दुच्चरिउ दुच्चारिउं दुब्भासिउ दुप्परिणामिउ दुस्समिणिउ णाणे दंसणे चरित्ते सुत्ते समाइये एयारस एहं पडिमाणं विराहणाए अट्ठविहस्स कम्मस्स णिग्घाद णाए अण्णहा उस्सासिदेण वा णिस्सासिदेण वा उम्मिसिदेण वा णिमिसिदेण वा खासिदेण वा छिंकिदेण वा जंभाइदेण वा सुहुमेहिं अङ्गचलाचलेहिं दिट्ठिचलाचलेहिं एदेहिं सव्वेहिं समाहिं पत्तेहिं आयारेहिं जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि। दंसण वय इत्यादि निष्ठितकरण वीरभत्ति काउसग्गं करेमि (णमो अरहंताणमित्यादि जाप्य ३६, जाप्य १८ थोस्सामीत्यादि)

अर्थ—मैं इच्छा करता हूं—वीर भगवान् को लक्ष्यकर कायोत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना) करता हूँ, जो मैंने दिन में या रात्रि में अतिचार (व्रत का एक देश भंग) अनाचार (व्रत का सर्व देश भंग) आभोग और अनाभोगरूप कायिक, वाचनिक और मानसिक दुष्टाचरण स्वयं किया हो या कराया हो, दुष्टता से भाषण किया हो, स्वप्नादि में दोष लगाया हो, अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सूत्र, सामायिक और ग्यारह प्रतिमाओं में विराधना की हो, आठ प्रकार के कर्मों को नष्ट करने के लिए, अन्यथा उछ्वास या निश्वास लेने, पलकों के उघाड़ने या बन्द करने से, खांसने से, छींकने से, जँभाई लेने से, सूक्ष्म अंग और दृष्टि की चंचलता से जो आवश्यक क्रियाओं में दोष उत्पन्न हुवा हो तो जब तक मैं

भगवान् अरहंत की पर्युपासना करता हूँ तव तक दुष्टाचरण या पापकर्म को दूर करता हूँ। 'दंसणवय' इत्यादि निष्ठित करण वीरभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ। (यहाँ ३६ वार णमोकार मन्त्रका जाप करे तथा थोस्सास्यहं जिणवरे इत्यादि पूर्वोक्त पाठ को १८ वार पढ़े)

य: सर्वाणि चराचराणि विधिवद्द्रव्याणि तेषां गुणान्।
पर्यायानपि भूतभाविभवतः सर्वान् सदा सर्वथा॥
जानीते युगपत्प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते।
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते वीराय तस्मै नमः॥ १॥

अर्थ—जो प्रत्येक समय में सम्पूर्ण चेतन-अचेतन द्रव्य तथा उनके गुण और सम्पूर्ण भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालीन पर्यायों को हमेशा सव प्रकार से युगपद् यथार्थ जानने के कारण, सर्वज्ञ कहा जाता है, उसीसर्वज्ञ, जिनेश्वर श्रीमहावीर प्रभु के लिये मेरा नमस्कार हो॥ १॥

चारित्रं सर्वजिनैश्चरितं प्रोक्तं च सर्वशिष्येभ्यः।
प्रणमामि पंचभेदं पंचमचारित्रलाभाय॥ २॥

अर्थ—जिस चारित्र का सर्व तीर्थङ्करों ने स्वयं ही परिपालन किया है तथा जिस चारित्र के पालन करने का उन्होंने अपने सभी शिष्यों को उपदेश भी दिया है, मैं पञ्चम यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति की अभिलाषा से, उसी पञ्च भेद रूप चारित्र को नमस्कार करता हूँ॥ २॥

इच्छामि भंते पडिक्कमणाइचारमालोचेउं तत्थ देसासि आआसणासि आथाणासि आकालासि आमुद्दासि आकाउस्सग्गासि आपणामासि आआवत्तासि अपडिक्कमणाए छसु आवासएसु परिहीयदा जो मए अच्चासणा मणसा वचिया काएण कदो वा कारिदो वा कीरंतो वा समणुमण्णिदो तस्स मिच्छामि दुक्कडं (दंसणमित्यादि) चउवीस

तित्थयर भत्तिकाउस्सग्गं करोमि (णमो अरहंताणमित्यादि थोस्सा-मीत्यादि)

अर्थ—हे परमात्मन् ! मैं इच्छा करता हूँ—प्रतिक्रमण करने में लगे हुए दोषोंकी आलोचना करता हूँ। प्रतिक्रमण करने में जो मुझसे देश, आसन, स्थान, काल, मुद्रा, कायो-त्सर्ग, श्वासोच्छ्वास और नमस्कारादि तथा ६ आवश्यकों से सम्बन्ध रखने वाले मानसिक, वाचनिक, कायिक एवं कृत-कारित, अनुमोदित दोष हुए हों वे सब निरर्थक हों।

(दंसण—इत्यादि पाठ बोलना चाहिए) चौवीस तीर्थङ्करों की भक्ति-पूर्वक मैं कायोत्सर्ग करता हूँ (यहां णमो अरहंताणं—इत्यादि और थोस्सामि इत्यादि पाठ बोलना चाहिए)।

चउवीसं तित्थयरे उसहाई वीर पच्छिमे वंदे।
सव्वेसिं गुणगणहरसिद्धे सिरसा णमंसामि॥

अर्थ—मैं वृषभदेव को आदि लेकर महावीरपर्यंत चौवीस तीर्थङ्कर, सम्पूर्ण गणधर और सिद्धों को मस्तक नमाकर नमस्कार करता हूँ।

इच्छामि भंते चउवीस तित्थयरभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सा लोचेउं पंचमहाकल्लाणसंपण्णाणं अट्ठमहापडिहेरसहियाणं चउतीसा-तिसयविसेससंजुत्ताणं बत्तीस देविंदमणिमउडमत्थयमहियाणं बलदेव वासुदेव चक्कहर रिसि मुणि जइअणगारो विगूढाणं थुइसयसहस्स-णिलयाणं उसहाइवीरपच्छिममंगलमहापुरुषाणं णिच्चकालं अच्चेमि पूजेमि वंदामि णमंसामि दुःक्खक्खउ कम्मक्खउ बोहिलाहो सुगइ-गमणं समाहिमरणं जिनगुणसंपत्ति होउ मज्झं, दंसणवय इत्यादि सव्वाइचारविसोहिणिमित्तं पुव्वाइरियकमेण आलोयणा श्रीसिद्ध-

भत्तिं पडिक्कमणभत्तिं वीरभत्तिं चउवीस तित्थयरभत्तिं कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्धयर्थं श्रीसमाधिभत्तिं काउस्सग्गं करोम्यहं (णमो अरहंताणं जाप्य ९) ।

अर्थ—मैंने जो चौवीस तीर्थङ्करों की भक्ति करके कायोत्सर्ग किया है, उसमें उत्पन्न हुए दोषों की आलोचना करता हूं। जो पञ्च महाकल्याणक, अष्ट महाप्रातिहार्य और चौंतीस अतिशय सहित हैं, मणिमयी मुकुटों को धारण करने वाले इन्द्रों से पूजित हैं, बल्देव, नारायण, चक्रवर्ती, ऋषि, मुनि, यति और अनागार—इनसे वेष्टित हैं और लाखों स्तुतियों के स्थान हैं, उन ऋषभदेव को आदि लेकर महावीर पर्यन्त मङ्गल महापुरुषों (तीर्थङ्कर) की मैं हमेशा पूजा करता हूँ, वन्दना और नमस्कार करता हूँ। मेरे दुख तथा उनके निमित्तभूत कर्मों का क्षय होकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो, उत्तम गति में गमन हो, समाधिमरण और जिनगुणरूपी सम्पत्ति की प्राप्ति हो। दंसणवय—इत्यादि सर्व दोषों को शुद्ध करने के लिये पूर्वाचार्यों के क्रम से मैं आलोचना करके श्री सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थकरों की भक्ति करके उसमें होने वाले हीनाधिकतारूप दोषों को दूर करने के लिये समाधिपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूं, (९ वार पंच नमस्कार मंत्र जपना चाहिये)

अथेष्टप्रार्थना—प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः।

अर्थ—अथानंतर मैं अभीष्टप्राप्ति के लिये प्रार्थना करता हूं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को मेरा नमस्कार हो।

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्य्यैः ।
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम् ॥
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्वे ।
संपद्यंतां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥

अर्थ—हे परमेष्ठिन् ! मेरे सदा जैनागम का अभ्यास, जिनेन्द्रदेव की ही स्तुति और सज्जनों की संगति प्राप्त हो ।

मैं सदा समीचीन चारित्र के धारण करने वाले महापुरुषों के गुणसमूह का कीर्तन करता रहूँ, उनके दोषों के प्रकट करने में मुझे सदा मौनव्रत का ही आलम्बन हो, मेरे वचन सब प्राणियों को प्रिय और हितकारक हों तथा भावना आत्मतत्वविषयक ही हो। हे जगउद्धारक प्रभो ! जब तक मेरे लिये मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक मुझे उपर्युक्त सामग्री सदा प्राप्त हो, यही मेरी इष्ट प्रार्थना है ।

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाणसंप्राप्तिः ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव, जब तक मुझे निर्वाण (मोक्ष) पद की प्राप्ति न हो तब तक आपके चरण–कमल तो मेरे हृदय में और मेरा हृदय आपके चरणों में ही रहे ।

अक्खर पयत्थहीणं मत्ताहीणं च जं मए भणियं ।
तं खमउ णाणदेवय मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु ॥

अर्थ—हे ज्ञानी भगवन् ! मैंने अल्पज्ञता के कारण अक्षर, पद, अर्थ और मात्राओं से रहित जो कुछ भी वर्णन किया है, उसे क्षमा कर मेरे दुःखों को नष्ट कीजिये ।

॥ इति ॥

आलोचना पाठ

(गिरधरशर्माकृत)

हैं दोष हैं गुण महेश मनुष्य हूँ मैं।
है पुण्य पापमय मानव देह मेरा॥
जो नाथ दोष व्रत के मुझ से हुए हों।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं॥ १॥
मैंने प्रभो स्वपर का हित ना विचारा।
अज्ञान मोहवश दुर्गुण चित्त धारा॥
पूरा किया न जगदीश्वर काम प्यारा।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं॥ २॥
जिह्वा रही न वश में रस भी न छोड़ा।
मोड़ा न नेंक मुख दुर्दम वृत्तियों से॥
नाना अनर्थ कर अर्थ समर्थ जोड़ा।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं॥ ३॥
हे नाथ ध्यान धरके तुमको न ध्याया।
स्वाध्याय में मन लगा न मजा उड़ाया॥
पाया प्रमोद विकथा कर नाथ मैंने।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं॥ ४॥
मैंने प्रमादवश दुर्गुण भी किए हैं।
गार्हस्थ्य कर्म यत्ना विन हो गए हैं॥
हा लोक के हृदय भी मुझ से दुखे हैं।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं॥ ५॥
आराधना मन लगा कर की न तेरी।

देती रही जगत में चल वृत्ति फेरी ॥
ऐसी हुई प्रभु भयंकर भूल मेरी ।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥ ६ ॥
बांधे प्रभू सुकृत के बहुधा नियाणै ।
नाना प्रकार रस हास्य विलास माणै ॥
जाने न कर्मरिपु ना तुमको पिछाने ।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥ ७ ॥
अध्यात्म का रस पिया छक खूब मैंने ।
संसार का हित किया भरपूर मैंने ॥
आलोचना इस तरह करते बनी ना ।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥ ८ ॥
षट्काय जीव करुणा करते न हारा ।
मारा प्रमाद मन में न कषाय धारा ॥
आलोचना इस तरह करते बनी ना ।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥ ९ ॥
संसार का हित महेश महा करै तू ।
है ये प्रसिद्ध अमनस्क मुनीन्द्र है तू ॥
तो भी तुझे न अपना मन दे सका मैं ।
कीजे क्षमा कर कृपा भगवान याचूं ॥ १० ॥
गंभीर ध्यान धरके भगवान का जो ।
आलोचना पढ़ करें निज शुद्ध देही ॥
हो जातिरत्न वह कीर्ति अनन्य पावे ।
सद्भव्यसिद्धि वर पत्तन को बसावे ॥ ११ ॥

जिन्होंने मन मार लिया !

हम उनके हैं दास जिन्होंने मन मार लिया ॥ टेक ॥
तज आडम्बर भये दिगम्बर, जीते विषय कषाय ।
ज्ञान ध्यान तप, लीन रहें जे आतम ज्योति जगाय ॥ जिन्होंने०
क्रोध लोभ के भाव निवारे, मारे काम क्रूर ।
माया-विष की, बेल उपाड़ी मान किया चकचूर ॥ जिन्होंने०
कंचन कांच बराबर जिनके वैरी मीत समान ।
सुख-दुःख जीवन-मरण एक सम जानें महल-मशान ॥ जिन्होंने०
तप की तोप ज्ञान का गोला लेय क्षमा-तलवार ।
मोह-महारिपु मार पछाड़ा आतमबल को सम्हार ॥ जिन्होंने०
उनही जैसी चर्या जिस दिन हो जावे 'शिवराम' ।
ता दिन की बलिहारी जाऊँ भेंटे गुरु गणधाम ॥ जिन्होंने०

चेतो ! चेतो !!

चेतो चेतन जी राजरे चेतो चेतन जी राज ।
सरसे सहु सगलां काज रे ॥ चेतो ॥ १ ॥
आ कुमती डांकण वलगी, हैया मा होली सलगी ।
मूकी दे तेणे अलगी रे ॥ चेतो ॥ २ ॥
तू छै अनंता ज्ञानी, शा ने थयो अभिमानी ।
तू केम वन्यो वेभानी रे ॥ चेतो ॥ ३ ॥
विषयविष घोली पीधूं, निज अमृत छोड़ी दीधूं ।
चौगति फरवानो कीधूं रे ॥ चेतो ॥ ४ ॥
मूरख मन ममता मेली, विषयों ने दीजो ठेली ।
झूँठी जग जाल गुंथेली रे ॥ चेतो ॥५॥
संसार ने झूँठो जाणी, समझी ले मूरख प्राणी ।
तू केम करै धूल धाणी रे ॥ चेतो ॥ ६ ॥
रत्नत्रय ने तू धरजे, निज आतम ध्यान तू करजे ।
सहजे शिवनारी वरजे रे ॥ चेतो ॥ ७ ॥
कचरा भाई अरजी सारी, सहु सुणजो नर ने नारी ।
भावे भजो त्रिपुरारी रे ॥ चेतो ॥ ८ ॥